

इकाई – 1— लौंग, सौंठ, कालीमिर्च, अजवायन, मेथी, सौंफ

- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 उद्देश्य
- 1.3 लौंग
 - 1.3.1 नाम 1.3.2 स्वरूप 1.3.3 उत्पत्तिस्थान 1.3.4 संग्रह 1.3.5 मानक
 - 1.3.6 रासायनिक संघटन 1.3.7 गुण 1.3.8 कर्म 1.3.9 प्रयोग 1.3.10 प्रयोज्य अंग
 - 1.3.11 मात्रा 1.3.12 विशिष्ट योग
- 1.4 सौंठ
 - 1.4.1 नाम 1.4.2 स्वरूप 1.4.3 उत्पत्तिस्थान 1.4.4 आर्द्रक और शुण्ठी
 - 1.4.5 रासायनिक संघटन 1.4.6 गुण 1.4.7 कर्म 1.4.8 प्रयोग 1.4.9 प्रयोगनिषेध 1.4.10 प्रयोज्य अंग 1.4.11 विशिष्ट योग
- 1.5 कालीमिर्च
 - 1.5.1 नाम 1.5.2 स्वरूप 1.5.3 रासायनिक संघटन 1.5.4 संग्रहविधि
 - 1.5.5 श्वेत मरिच 1.5.6 गुण 1.5.7 कर्म 1.5.8 प्रयोग 1.5.9 प्रयोज्य अंग
 - 1.5.10 मात्रा 1.5.11 विशिष्ट योग 1.5.112 अपमिश्रण
- 1.6 अजवायन
 - 1.6.1 नाम 1.6.2 स्वरूप 1.6.3 उत्पत्तिस्थान 1.6.4 रासायनिक संघटन
 - 1.6.5 गुण 1.6.6 कर्म 1.6.7 प्रयोग 1.6.8 प्रयोज्य अंग 1.6.9 मात्रा
 - 1.6.10 विशेष 1.6.11 विशिष्ट योग।
- 1.7 मेथी
 - 1.7.1 नाम 1.7.2 स्वरूप 1.7.3 उत्पत्ति स्थान 1.7.4 रासायनिक संघटन
 - 1.7.5 गुण 1.7.6 कर्म 1.7.7 प्रयोग 1.7.8 प्रयोज्य अंग 1.7.9 मात्रा
 - 1.7.10 विशिष्ट योग
- 1.8 सौंफ
 - 1.8.1 नाम 1.8.2 स्वरूप 1.8.3 उत्पत्तिस्थान 1.8.4 रासायनिक संघटन
 - 1.8.5 गुण 1.8.6 कर्म 1.8.7 प्रयोग 1.8.8 प्रयोज्य अंग 1.8.9 मात्रा
- 1.9 सारांश
- 1.10 शब्दावली
- 1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
- 1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ
- 1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारतीय भोजन में प्राचीन काल से ही मसालों का प्रयोग होता आया है। अलग-अलग प्रांतों में अलग प्रकार के व्यंजन बनते हैं पर कमोबेश हर जगह लौंग, सौंठ, कालीमिर्च, अजवायन, मेथी, सौंफ आदि मसालों का उपयोग होता है। ये मसाले भोजन का स्वाद तो बढ़ाते ही हैं, पाचक और कई दोषों का शमन करने वाले होते हैं। ये कफ को कम करते हैं, वात का अनुलोमन करते हैं, कई प्रकार के उदर रोगों का शमन करते हैं। इनके बारे में विस्तार से जानकर आप लाभ ले सकते हैं।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप घर में उपयोग होने वाले मसालों का औषधीय महत्व जान सकेंगे। इनकी उपलब्धता, प्रयोग का तरीका, इनके उत्पत्ति स्थान, इनको संरक्षित रखने के तरीके तथा विभिन्न बीमारियों में इनके प्रयोग से कैसे लाभ लिया जा सकता है, यह जान सकेंगे। यह भी जान सकेंगे कि आकस्मिक स्थिति में जब अन्य औषधियां उपलब्ध ना हों तो कैसे इन मसालों से चिकित्सा की जा सकती है।

1.3 लौंग

कुल — लवंग कुल — (मिर्सेसी — Myrtaceae)।

1.3.1 नाम — लै० सिजिगियम एरोमेटिकम (Syzygium aromaticum)।

सं० लवंग, देवकुसुम (देवताओं को चढ़ाने वाले फूल—फूलों में श्रेष्ठ) श्रीप्रसून (सुन्दर पुष्प वाला), चन्दनपुष्पक (चन्दन के समान सुगन्धित पुष्प, वारित (जल की अधिकता वाले द्वीपों में होने से), हि० लवंग, लौंग, म०, गु० लवंग बं० लवंग, ता० किराम्बू, ते० कारावल्लु, अं० क्लोव (Clove)।

1.3.2 स्वरूप — इसका सदाहरित वृक्ष 30-40 फीट ऊँचा होता है। तने से चारों ओर कोमल और कुछ झुकी हुई शाखायें निकल कर फैली रहती हैं। पत्र हरे, 3-6 इंच लम्बे, अण्डाकार होते हैं। पुष्प सुगन्धित, बैंगनी रंग के होते हैं। फल लवंगाकृति होता है जो मातृलवंग कहा जाता है। पुष्पकलियों को ही सुखाकर बाजारों में लौंग के नाम से बेचते हैं।

1.3.3 उत्पत्तिस्थान — यह मूलतः मलक्का द्वीप का पौधा है। जंजीबार में इसकी विशेष उपज होती है। इसके अतिरिक्त पिनांग, मारिशस एवं श्रीलंका द्वीपों में भी उगाया जाता है। भारत में अधिकांश तंजानिया और सिंगापुर से आता है। भारत में तमिलनाडु और केरल में लगाया गया है।

1.3.4 संग्रह — 7-8 वर्ष की आयु में पेड़ों में कलियां लगने लगती हैं। 30-60 वर्ष के वृक्षों से पूरी उपज मिलती है। अविकसित कलिकायें पेड़ों पर चढ़ कर तोड़ी जाती हैं। जब ये कलिकायें हरी से कुछ गुलाबी होने लगती हैं तभी तोड़ने का उपयुक्त समय होता है। अलग-अलग देशों में अलग-अलग समय में गुलाबी होने पर तोड़ी जाती हैं। केरल में जनवरी-फरवरी तथा नीलगिरी में जून में संग्रह किया जाता है। एक पेड़ से लगभग ढाई से साढ़े चार किलो लवंग प्राप्त होता है। तोड़ने के बाद कलियों को हाथ से रगड़कर वृन्त को अलग करते हैं और फिर चटाई या पक्के फर्श पर फैला कर धूप में 4-5 दिनों तक सुखा कर रख लेते हैं। सुखाने के बाद लगभग 60 प्रतिशत वनज कम हो जाता है।

1.3.5 मानक — लवंग भूरे रंग का, 10-20 मि०मी० लंबा, किंचित रूक्ष, आधारभाग किंचित बेलनाकार, शीर्षभाग पर गेंद के सदृश खिला हुआ अन्तःकोष जिसके ऊपर चतुर्दन्त बह्वकोष स्थित रहता है। निचले भाग को दबाने पर कुछ तेल निकलता है। इसमें तीक्ष्ण सुगन्ध और कटुरस होता है। मानक के अनुसार इसमें उड़नशील तेल 15 प्रतिशत तथा क्षार 7 प्रतिशत होनी चाहिए।

1.3.6 रासायनिक संघटन — सूखे लवंग में आर्द्रता 25.2, प्रोटीन 5.2, वसा 8.9, सूत्र 9.5 अन्य कार्बोहाइड्रेट 46, खनिज द्रव्य 5.2 प्रतिशत होते हैं। इसके अतिरिक्त कैल्शियम 740, फास्फोरस 100, लौह 4.9 मि०ग्रा० तथा आयोडिन 50.7 ग्रा० होता है। विटामिनों में कैरोटिन 253 मा० ग्रा०, थायमिन 0.08 मि० ग्रा० निकोटिनिक एसिड 1.59 मि०ग्रा० रिबोफ्लेविन 0.13 मि०ग्रा० प्रति 100 ग्रा० होते हैं। टैनिन (गैलोटेनिक एसिड) 13 प्रतिशत होता है।

लवंग से एक सुगन्धित तेल (Clove bud oil) 14.23 प्रतिशत निकलता है इसमें यूजिनाल (70-90 प्रतिशत), यूजिनाल एसिटेड (2-17 प्रतिशत), तथा कैरियोफाइलिन (Caryophyllene) मुख्य घटक होते हैं। एक जंगली प्रजाति भी होती है, जंगली लवंग से कम तेल निकलता है। जिसमें यूजिनाल भी नहीं होता है।

इसी प्रकार पुष्पवृन्तों से (Clove stem oil) 5.5-7 प्रतिशत से 6.5 प्रतिशत तथा कैरियोफाइलिन (Clove leaf oil) 4.5 प्रतिशत, लवंगफल (Mother of Clove) से 6.5 प्रतिशत तथा मूल से 6 प्रतिशत उड़नशील तेल प्राप्त होता है। औषधीय उपयोग में केवल कलिकाओं का ही तेल आता है। व्यापारिक स्तर पर लवंगतेल जंजीबार और पेम्बा तथा कुछ श्रीलंका, पेनांग और इण्डोनेशिया में इसका निर्माण होता है। भारत में लवंग तेल फ्रांस, ब्रिटेन, हालैण्ड तथा तंजानिया से आता है।

1.3.7 गुण

गुण — लघु, स्निग्ध **रस** — तिक्त, कटु

विपाक — कटु **वीर्य** — शीत

1.3.8 कर्म

दोषकर्म — तिक्त कटु होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — तीक्ष्ण होने से यह रक्तोत्क्लेशक, उत्तेजक एवं कृमिघ्न होता है।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — यह कटु तिक्त होने से दीपन, पाचन, रूचिवर्धक है। यह तीक्ष्णता के कारण लालाग्रंथियों को उत्तेजित करता है जिससे लार का स्राव अधिक होता है और मुखशोष दूर होता है सूगन्ध के कारण मुख की दुर्गन्ध का नाश करता है। स्निग्ध होने से वातानुलोमन एवं शूल को दूर करता है यह यकृत को भी उत्तेजित करता है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृदय एवं रक्तसंवहन को उत्तेजित करता है तथा रक्तभार को बढ़ाता है। रक्तविकारों को भी तिक्त होने के कारण दूर करता है।

श्वसनसंस्थान — यह बाजीकरण, स्त्रियों में दूध बढ़ाने वाला एवं स्तन्यशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान — यह वृक्कों को उत्तेजित करता है और मूत्रजनन है।

त्वचा — यह त्वचा को उत्तेजित करता है तथा उसके विकारों को दूर करता है।

तापक्रम — यह तिक्त होने से आमपाचन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — कटु तिक्त होने से यह कटुपौष्टिक के रूप में कार्य करता है और क्षय जो दूर करता है।

उत्सर्ग — शरीर से इसका उत्सर्ग श्वास, पित्त, स्तन्य, स्वेद एवं मूत्र के द्वारा होता है।

1.3.9 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — शिरःशूल तथा जुकाम में माथे पर इसका लेप करते हैं। मुखरोगों तथा त्वचा के रोगों में लवंग चूसते हैं। लवंग का लेप भी चर्मरोगों में करते हैं। लवंग के तेल से आमवात, कटिशूल आदि वातविकारों में मालिश करते हैं दांत खोखले होने पर या दन्तशूल में इसका तेल रूई में भिगो कर कोटर में दबा कर रखते हैं इससे कृमि मर जाते हैं और शूल शांत हो जाता है। ध्वजभंग रोग में इसका तेल शिश्न पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — अरूचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल, अम्लपित्त, छर्दि एवं तृष्णा में इसका प्रयोग होता है। यकृतविकारों में भी यह प्रयुक्त होता है। जीर्ण ग्रहणीरोग तथा अम्लपित्त के लिये यह अच्छी औषध है। अम्लपित्त में यह आमदोष का पाचन कर अग्नि को दीप्त कर पाचन प्रक्रिया को ठीक करता है, पित्त के विदाह को शांत करता है तथा द्रवत्व का भी शोषण करता है।

रक्तवहसंस्थान — इसका प्रयोग हृदौर्बल्य तथा रक्तविकारों में किया जाता है। फिरंग, उपदंश में भी यह लाभकर होता है। इसका एक योग 'देवकुसुमादि रस' इन रोगों में दक्षिण भारत में बहुत प्रचलित है।

श्वसनसंस्थान — यह कास, श्वास एवं हिचकी में प्रयुक्त होता है। क्षयरोग में यह कास को शांत करता है, कफ की दुर्गन्ध को दूर करता है और उदरविकारों को ठीक करता है।

प्रजननसंस्थान — यह शुक्रस्तम्भन योगों में दिया जाता है। स्तन्यवृद्धि तथा स्तन्यशोधन के लिये भी उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा — यह चर्मविकारों में लाभकर है।

तापक्रम — ज्वरों में इसका प्रयोग होता है। लवंगोदक का प्रयोग ज्वरों के लिए प्रशस्त माना गया है। इससे आमदोष का पाचन होता है तथा तृष्णा, वमन आदि उपद्रव शांत होते हैं।

सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य तथा क्षयरोग में यह प्रयुक्त होता है।

1.3.10 प्रयोज्य अंग — पुष्पकलिका।

1.3.12 मात्रा — 1-2 ग्रा०, तेल 1-3

1.3.13 विशिष्ट योग — लवंगादि चूर्ण, लवंगचतुःसम, लवंगादि वटी, लवंगोदक, अविपत्तिकर चूर्ण।

1.4 सौंठ

गण— तृप्तिघ्न, अर्शोघ्न, दीपनीय, शूलप्रशामन, तृष्णानिग्रहण (च०) पिप्पलयादि, त्रिकुट (सु०) पंचकोल (भा०)

कुल — आर्द्रक कुल — जिंजिबरसेसी (Zingiberaceae)।

1.4.1 नाम — लैटिन जिंजिबर ऑफिशिनेल् (Zingiber officinale)

सं० शुण्ठी (शुष्क होने से), नागर (श्रेष्ठ औषध तथा नगर में व्यापार होने के कारण), महाषौध (प्रशस्त औषध) विश्वभेषज (अनेक विकारों में प्रयुक्त), श्रृगबेर (श्रृंगाकार कन्द होने के कारण) कच्चे कन्द को 'आर्द्रक' (गीला होने के कारण) कहते हैं। शुण्ठी हि० सोंठ, म० सुंठी, गु० सूठ, बं० सोंठ, ता० शुक्कू, ते० सोंटि, अ० जजबील, फा० शंगवीर, अं० ड्राई जिंजर। आर्द्रक हि० अदरख, बं० आदा, म० आलें, गु० आदु अं० फ्रेश जिंजर।

1.4.2 स्वरूप — यह कोमल, कन्दयुक्त बहुवर्षीय क्षुप है। इसका पत्रयुक्त तना 2-4 फुट ऊँचा होता है। पत्र लम्बे, चौड़े, तथा अधस्तल पर चिकने होते हैं। पुष्पध्वज डेढ़ से तीन इंच लम्बा होता है। जिसमें 6-12 इंच लम्बे पुष्पदण्ड पर हरिताभ पीले फूल लगते हैं जिसका ओष्ठ भाग गहरे बैंगनी रंग का या काला होता है। पुंकेसर गहरे बैंगनी रंग के होते हैं। पुष्प वर्षाऋतु एवं शरद में आते हैं किन्तु कम ही दिखाई देते हैं।

कन्द सुगन्धित, स्थूलखंडयुक्त, हल्के पीले रंग का होता है।

1.4.3 उत्पत्तिस्थान — उष्ण और आर्द्र प्रदेशों में विशेषतः केरल में इसकी खेती की जाती है। बंगाल, उड़ीसा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा हिमाचलप्रदेश, उत्तराखण्ड में इसकी खेती होती है।

1.4.4 आर्द्रक और शुण्ठी — आर्द्र कन्द को आर्द्रक तथा सूखे कन्द को शुण्ठी कहते हैं। बांस के तीखे टुकड़े से रगड़ कर अदरख की त्वचा हटा देते हैं उसके बाद पानी से धोकर 8-10 दिनों तक सुबह धूप में और उसके बाद छाया में सुखाते हैं। टुकड़ों को सफेद और चिकना बनाने के लिये अदरख को एक दिन पानी में डुबोने के बाद गाढ़े चूने के पानी में रखते हैं। उसके बाद धूप में सुखाकर टाट के टुकड़ों से रगड़ देते हैं। इससे उन पर सफेदी और चमक आ जाती है।

प्रकार — शुण्ठी को वर्ण और आकार के अनुसार छोटते हैं। व्यापार में देशभेद से इसके निम्न प्रकार किये गये हैं — यथा 1. जमायकन, 2. भारतीय (क) कोचीन (ख) कालीकट (ग) कलकत्ता, 3. अफ्रीकी, 4. चीनी — यह सफेद और सूत्र रहित होती है। कुछ प्रकार अन्य वानस्पतिक प्रजातियों से बनते हैं यथा जापानी सोंठ जिंजिबर मिओगा (Z. mioga) और मार्टिनिक सोंठ जिंजिबर जरेम्बेट (Z. zerumbet) से प्राप्त होती है।

भारतीय मानक के अनुसार इसके टुकड़े अनियमित आकार के लंबाई में 20 मि० मी० से कम नहीं, या छोटे कटे टुकड़ों में, हलके भूरे रंग में सूत्रयुक्त, त्वचा पूरी हटाई नहीं हुई हो। इसकी गंध, स्वाद में कोई विकृति भी न हो।

1.4.5 रासायनिक संघटन — आर्द्रक में आर्द्रता 80.9, प्रोटी 2.3, वसा 0.9, सूत्र 2.4, कार्बोहाइड्रेट 12.3, खनिज 1.2 प्रतिशत, कैल्सियम 20, फास्फोरस 60, लौह 2.6 मि०ग्रा० प्रति 100 ग्राम। इसके अतिरिक्त कुछ आयोडिन और क्लोरीन होता है। विटामिन ए०बी० और सी०भी होते हैं।

शुण्ठी में आर्द्रता 10.9, प्रोटीन 15.4, सूत्र 7.2, स्टार्च 5.3, कुल भस्म 6.6, उड़नशील तेल 1-2, 7 प्रतिशत होता है।

उड़नशील तेल छिलकासहित सोंठ से प्राप्त किया जाता है क्योंकि छिलके में तेलकोषाणु स्थित होते हैं। अदरक से भी ऐसा तेल निकाला जा सकता है। यह सुगन्धित तेल शुण्ठीतेल कहलाता है। इसमें कटुता नहीं होती। इस तेल में जिंजिबरीन, जिंजिबेराल आदि तत्व होते हैं।

शुण्ठी में पाए जाने वाले कटु तत्व उड़नशील नहीं होते। अतः शुण्ठीचूर्ण को एसिटोन, अलकोहल या ईथर में रखने पर एक गाढ़ा, गहरे भूरे रंग का तैलीय राल प्राप्त होता है। द्रव्य की सारी कटुता इसी में होती है। यह लगभग 6.5 प्रतिशत होता है। कटु तत्वों के अतिरिक्त, तैलीय राल में सुगन्धित तेल 7-8 प्रतिशत तथा अकटु पदार्थ 30 प्रतिशत होते हैं। कटु तत्वों में जिंजरोल, शोगाओल तथा जिंजरोन प्रमुख हैं।

1.4.6 गुण

गुण — लघु, स्निग्ध (शुण्ठी), गुरु रूक्ष, तीक्ष्ण (आर्द्रक)

रस — कटु **विपाक** — मधुर, कटु, वीर्य उष्ण।

1.4.7 कर्म

दोषकर्म — यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह शीत, शोथ और वेदना दूर करने वाला है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — यह नाड़ियों के लिये उत्तेजक और वातशामक है।

पाचनसंस्थान— यह तृप्तिघ्न, रोचन, दीपन, पाचन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन तथा अर्शाहर है। **रक्तवहसंस्थान** — यह उष्णता के कारण हृदय एवं रक्तवहसंस्थान को उत्तेजित करता है तथा शोथहर, रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान — यह मधुरविपाक होने से वृष्य और उष्ण होने से उत्तेजक है।

तापक्रम — यह ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण — शुण्ठी एक उत्तम आमपाचन है अतः शरीर के आमदोष का पाचन कर आम से उत्पन्न होने वाले विविध विकारों का दूर करती है। तीक्ष्णता के कारण यह स्रोतरोध का भी निवारण करती है।

1.4.8 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — आमवात, संधिशोथ आदि में इसको पीस कर गरम लेप किया जाता है। शैत्य तथा अवसाद को दूर करने के लिये भी इसका लेप करते हैं और उसका चूर्ण तेल में मिलाकर अभ्यंग करते हैं। शोथ में इसके चूर्ण का उद्धर्षण करने से लाभ होता है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — यह समस्त वातव्याधि में प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान — यह अरूचि, हृल्लास, छर्दि, अग्निमाद्य, अजीर्ण, कोष्ठगतवात, आघ्मान, उदरशूल तथा अर्श में उपयोगी है। अग्निमाद्य और अरूचि में भोजन के पहले अदरख और नमक खाया जाता है।

रक्तवहसंस्थान — हृदौर्बल्य, हृच्छूल तथा श्लीपद, शोथ, आमवात आदि में प्रयुक्त होता है। शीतपित्त आदि विकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान — कास, श्वास, हिक्का एवं प्रतिश्याय में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान— बाजीकरण योगों में शुण्ठी का प्रयोग किया जाता है।

तापक्रम — सामान्य एवं सन्निपात ज्वरों में अदरख का रस अनुपान के रूप में दिया जाता है। शुण्ठी चूर्ण विषम एवं जीर्ण ज्वरों में लाभकर है।

सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य विशेषकर प्रसवोत्तर दौर्बल्य में शुण्ठीपाक का प्रयोग करते हैं। इससे पेट ठीक होता है, वातविकार नष्ट होते हैं, शोथ दूर होता है तथा बल की वृद्धि होती है। आमवात की भी यह एक उत्तम औषध है।

1.4.9 प्रयोगनिषेध — उष्ण और तीक्ष्ण होने के कारण अदरक का प्रयोग कुष्ठ, पांडू, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, व्रण एवं ज्वर तथा ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में नहीं करना चाहिए।

1.4.10 प्रयोज्य अंग — कन्द।

1.4.11 विशिष्ट योग — आर्द्रकखण्ड, पंचसमचूर्ण, समशर्करचूर्ण, रास्नादिक्वाथ, सौभाग्यशुण्ठी, शुण्ठीसुरा मात्रा 0.3-0.6 मि०लि० शुण्ठी पानक मात्रा 2-4 मि०लि०।

1.5 काली मिर्च

गण — दीपनीय, शूलप्रशमन, कृमिघ्न, शिरोविरेचन (च) पिप्पल्यादि त्रयूषण (सु०)

कुल — पिप्पलीकुल पाइपरेसी — (piperaceae)।

1.5.1 नाम — लैटिन— पाइपर नाइग्रम (piper nigrum)।

सं०—मरिच, वेल्लज (लताओं में होने वाला), कृष्ण (कालाफल होने से), उष्ण (कटु), सुवृत्त (फल गोलाकार), हि०—कालीमिर्च, गोल मिर्च, मरिच, बं० गोलमरिच, म०—गिरी, गु०—मरी, कालामरी, ता०—मिलामू, ते०—मिरियालतिगे, कन्न०—कारेमनेसु,, मल०—नल्लमुलकु, अं०—फिल्फिल् अं० ब्लैक पीपर (Black pepper)।

1.5.2 स्वरूप — इसकी बहुवर्षायु, शाखायुक्त, झाड़ीदार, आरोहिणी लता होती है जो नारियल, सुपारी आदि के वृक्षों पर चढ़ी रहती है या बांस गाड़ कर उसके सहारे चढ़ाई जाती है। शाखायें दृढ़ और प्रसारी होती है तथा इनके पर्वों से मूल बाहर निकलते हैं जिनके द्वारा यह वृक्षों पर चिपकी रहती है। पत्र पान के आकार के 5-7 इंच लम्बे, 2-5 इंच चौड़े, 2-3 जोड़ी दृढ़ सिराओं से युक्त होते हैं पुष्प छोटे और एकलिंगी मंजरियों में होते हैं किन्तु प्रायः स्त्री पुष्पों में दो परागकोष तथा पुंपुष्पों में एक स्त्रीकेशर होता है। द्विलिंगी पुष्प जितने अधिक होंगे, उपज उतनी ही अधिक होगी। फल गोल या अण्डाकार गुच्छों में होते हैं। ये कच्चे में हरे और पकने पर लाल तथा सूखने पर काले हो जाते हैं। बीज प्रायः गोल, बीजावरण पतला और बीजमज्जा कठोर होती है। जून—जुलाई में फूल आते हैं तथा दिसम्बर से मार्च तक फल आते हैं, उस समय इनका संग्रह किया जाता है। एक पौधा 25-30 वर्षों तक अच्छी उपज देता है उसके बाद फलों में कमी आने लगती है। कभी—कभी 100 वर्षों तक फल देते देखा गया है। प्रायः साल में दो उपज ली जाती है। एक अगस्त—सितम्बर तथा दूसरी मार्च—अप्रैल।

1.5.3 रासायनिक संघटन — फल की त्वचा में पाइपरिन (Piperine) 5-10 प्रतिशत, पाइपरिडिन (Piperidine), 5 प्रतिशत, पाइपरेटिन (Piprettine) तथा चविसिन (Chavicine) होते हैं। इन्हीं क्षाराभों के कारण मरिच में कटुता होती है। इसके अतिरिक्त, सुगन्धित

उड़नशील तेल 1-2.6 तथा वसा 7, सूत्र 14.9, आर्द्रता 13.2, प्रोटीन 11.5, कार्बोहाइड्रेट 41.2, खनिजपदार्थ 4.4 प्रतिशत, कैल्शियम 460, फास्फोरस 198, लौह 16.8, थियामिन 0.09, राइबोफ्लेबिन 0.14, निकोटिनिक अम्ल 1.4 मि०ग्रा०। प्रति 100 ग्रा० तथा विटामिन ए 1800 इ०यु०/प्रति 100 ग्राम होता है।

1.5.4 संग्रहविधि — काली मिर्च सुखाये हुए पूर्ण प्रौढ़ कच्चे फल होते हैं। यह प्रायः आकृति में गोलाकार, 3-4 मि०मि० व्यास का, गहरी सिकृड़नभरी त्वचा से युक्त होती है। इसके भीतर एक बीज होता है तथा केन्द्र में रिक्त रहता है।

जब फल तैयार हो जाता है तब सीढ़ी के सहारे लता से मंजरियों को अलग कर लेते हैं। इन्हें फिर चटाई या पक्के फर्श पर फैला कर एक सप्ताह तक धूप में सुखाते हैं। बीच-बीच में उलटते-पलटते रहते हैं। उसके बाद डंडों से पीट कर या पांव से मसलकर फलों को डण्डल से पृथक कर दिया जाता है। फिर अच्छे फलों को हाथ से चुनकर रख लेते हैं और डण्डल, पत्तियों, छोटे तथा कच्चे फलों एवं अन्य अशुद्धियों को हटा देते हैं।

1.5.5 श्वेत मरिच — पके फलों का छिलका हटाकर सुखाने से श्वेत मरिच तैयार होता है। छिलका हाथ से रगड़कर या पानी में फुला कर छुड़ाते हैं। मुख्यतः इण्डोनेशिया से श्वेत मरिच की उपज और आयात होता है।

1.5.6 गुण

गुण — लघु, तीक्ष्ण **रस**—कटु

विपाक — कटु **वीर्य** — उष्ण

ताजा फल गुरू, मधुरविपाक और उष्ण होता है।

1.5.7 कर्म

दोषकर्म — यह उष्णवीर्य होने से वात तथा कटु, रूक्ष और तीक्ष्ण होने से कफ का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — इसका लेप रक्तोक्लेशक और लेखन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — यह नाडियों के लिये उत्तेजक और बल देने वाला है।

पाचनसंस्थान — तीक्ष्ण और उष्ण होने से यह लार पैदा करता है, दीपन, पाचन, यकृतुत्तेजक, वातानुलोमन एवं पेट के कीड़ों को मारता है।

रक्तवहसंस्थान — यह उत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान — कटु और तीक्ष्ण होने से कफ दूर करता है और कफ को निकालता है।

मूत्रवहसंस्थान — यह तीक्ष्णता के कारण मूत्रेन्द्रिय को उत्तेजित करता है, फलतः इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है।

प्रजननसंस्थान — यह उत्तेजक और आर्तवजनन है।

त्वचा — यह स्वेदजनन(पसीना बढ़ाता है) और कुष्ठ को ठीक करता है।

तापक्रम — ज्वरघ्न विशेषः विषमज्वर को ठीक करता है।

सात्मीकरण — अल्पमात्रा में यह तीक्ष्णता के कारण शरीर से समस्त स्रोतों से मलों को बाहर कर स्रोतःशोधन करता है।

1.5.8 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — किलास, पामा, आदि चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं या तेल में मिलाकर लगाते हैं। शोथ—वेदना युक्त विकारों में भी लेप करते हैं। फुंसियों पर लेप करने से बैठ जाती है। अर्म, शुक्ल आदि में मरिच को मधु में घिस कर अंजन करते हैं। दंतके दर्द तथा दंतकृमि में इसका मंजन करते हैं या इसके क्वाथ से गंडूष करते हैं या इसको मूंह में रखकर चूसते हैं।

आभ्यन्तर नाडीसंस्थान — नाडीदौर्बल्य तथा अन्य वातविकारों में यह लाभकर है।

पाचनसंस्थान — अग्निमांदा, अजीर्ण, यकृत विकार, अपफारा, शूल एवं कृमिरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान — हृदौर्बल्य में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान — प्रतिश्याय, कास, और श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान — ध्वजभंग और रजोरोध में लाभकर है।

त्वचा — कुष्ठ आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम — ज्वरों में, विशेषतः शीतज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इससे शैत्य का कष्ट कम होता और ज्वर भी घटता है।

सात्मीकरण — स्रोतरोध दूर करने के लिये उपयोगी है।

1.5.9 प्रयोज्य अंग — फल

1.5.10 मात्रा — आधा से एक ग्राम

1.5.11 विशिष्ट योग — मरिचादि गुटिका, मरिचादि तेल, मरिचादि चूर्ण, मरिचाद्य घृत।

1.5.12 अपमिश्रण — इसमें बहुधा पपीते अथवा अन्य वनस्पतियों के समान दिखने वाले बीज मिला देते हैं। काली मिर्च की पहचान स्टार्च तथा उड़नशील तेल की अधिक मात्रा के द्वारा होती है।

1.6 अजवायन

गण — शीतप्रशमन (च०) चतुर्बीज (भा० प्र०)।

कुल — शतपुष्पा कुल अम्बेलिफेरी Umbelliferae.)

1.6.1 नाम — लै० टैकीस्पर्मम अम्मी (Tachyspermum ammi)

सं० यवानी, अजमोदिका, दीप्यका, हि० अजवायन, ब० जोवन, म० ओवा, गु० अजमी, पं० जवैण, क० जविन्द, कन्न० ओमा, मल० ओमम, ता० आमम, अं० अजोवान (Ajowan)

1.6.2 स्वरूप — इसका शाखाप्रशाखायुक्त, चिकना, पत्रमय क्षुप 1-3 फुट ऊँचा होता है। तना धारीदार होता है। पत्र द्विपक्षवत् या त्रिपक्षवत् विभक्त, अन्तिम पत्रखण्ड रेखाकार होते हैं। कोणपुष्पक अनेक, रेखाकार होते हैं। फूल छत्राकार, सफेद, संयुक्त छत्रकों में होते हैं। पत्रवृत्त छोटे, रेखाकार होते हैं। फल लम्बे व अंडाकार धूसर—भूरे, छोटे कांटेदार या रोमयुक्त होते हैं तथा पांच स्पष्ट रेखाओं से युक्त होने के कारण पञ्चकोणीय प्रतीत होते हैं। फल के एकबीजी दोनों खण्ड कुछ दबे होते हैं। प्रत्येक

खण्ड में एक बीज होता है। मूल—मूली के आकार की होती है। फरवरी—अप्रैल में फूल और उसके बाद फल लगते हैं।

1.6.3 उत्पत्तिस्थान — समस्त भारत में विशेषतः मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र तथा कुछ राजस्थान बिहार और पश्चिम बंगाल में इसकी खेती की जाती है। अच्छे किस्म की अजवायन, इन्दौर, उज्जैन और ग्वालियर में होती है।

जाति — इसकी अनेक जातियां हैं यथा देशी अजवायन (बड़ी) देशी अजवायन (छोटी), नडियाद अजवायन आदि।

1.6.4 रासायनिक संघटन — इसके फलों में एक सुगन्धित तेल होता है जिसके मुख्य घटक थाइमॉल तथा कुछ कार्बाक्रोल (Carvacrol) है। मानक अजवायन तेल में 40 प्रतिशत से कम थाइमोल नहीं होना चाहिए। तेल को ठंडा करने पर थाइमोल जम जाता है जो सत अजवायन कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट तैलांश थाइमिन (Thymene) कहलाता है। फल में इसके अतिरिक्त आर्द्रता 7.4, प्रोटीन 17.1, वसा 21.8, सूत्र 21.2, कार्बोहाइड्रेट 24.6, खनिज 7.9 प्रतिशत तथा कैल्शियम 1.525 कुल फास्फोरस 445, लौह 27.7, सोडियम 56, पोटेशियम 1.390, थायमिन 0.21, कैरोटिन 71 मा० ग्रा० प्रति 100ग्राम तथा आयोडिन 0.45 मि०ग्रा० प्रति किलोग्राम होता है। इसके अतिरिक्त, शर्करा, टैनिन, ग्लाइकोसाइड, सैपोनिन, एक फ्लेबिन तथा एक स्टिरायड पदार्थ पाये जाते हैं। फलों से एक स्थिर तेल 14.8 निकलता है।

1.6.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस** — कटु, तिक्त

विपाक — कटु **वीर्य** — उष्ण

1.6.6 कर्म

दोषकर्म — यह तीक्ष्ण—उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह वेदना दूर करने वाला, शोथहर, वात का अनुलोमन करने वाला, जन्तुघ्न और विषघ्न है।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — यह रोचन, दीपन, वातानुलोमन, शूलहर तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान — यह उष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान — यह कफ और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्र बढ़ाने वाला है।

प्रजननसंस्थान — यह शुक्रनाशक, स्तन्यनाशन तथा गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा — यह पसीना बढ़ाता है और त्वचा के दोष दूर करता है।

तापक्रम — शीत को दूर करने वाला और ज्वरहर है।

सात्मीकरण — विषघ्न है।

1.6.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — अजवायन का लेप या उसके तेल की मालिश शोथवेदनायुक्त विकारों में करते हैं। चर्मरोगों तथा बिच्छु आदि के दंश में उसका लेप

करते हैं। सत अजवायन को गरम पानी में मिला कर उससे घाव धोते हैं। अफारा होने पर पेट पर अजवायन का लेप करते हैं या उसकी पोटली बना कर सेकते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान — अरूचि, अग्निमांद्य अजीर्ण, आघ्मान, आनाह, उदरशूल, गुल्म, प्लीहा और कृमिरोगों में इसका प्रयोग करते हैं। सत अजवायन आंतों के अंकुशकृमि (hookworm) में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान — हृदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान — जीर्ण कास और श्वास में इसका चूर्ण देते हैं। इससे कफ आसानी से निकलता है, कफ नष्ट होता है, कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है और जीवाणुओं की वृद्धि रूकती है। श्वास का वेग भी कम हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्राघात में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान — कष्टार्तव तथा सूतिकारोग में यह उपयोगी है। इससे गर्भाशय का संशोधन होता है, वात का शमन होता है, अग्नि बढ़ती है तथा ज्वर आदि उपद्रव शांत होते हैं।

त्वचा — त्वचा के दोषों में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम — शीतज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण — जीर्ण अहिफेन-विष (अफीम के विष) में यह लाभकर है और इससे उसकी आदत छूट जाती है।

1.6.8 प्रयोज्य अंग — फल

1.6.9 मात्रा — चूर्ण 1-3 ग्राम, तेल 1-3 बूंद, सत्त्व 30-120 मि० ग्रा० अर्क 20-40 मि० लि०।

1.6.10 विशेष — इसका क्वाथ नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे इसका उड़नशील तेल नष्ट हो जाता है।

1.6.11 विशिष्य योग — यवानिकादि क्वाथः यवानिकादि चूर्ण, यवानीषाडव, यवान्यर्क।

1.7 मेथी

चतुर्बीज — (भा०प्र०)

कुल — शिम्बी कुल (लेम्युमिनोसी — Leguminosae)

उपकुल — अपराजिता — उपकुल (पैपिलिओनेटी — Papilionac)

1.7.1 नाम — लै० ट्राइगोनेला फीनमग्रीकम (Trigonella foenum- Graecum)

सं०— मैथिका, मेथी, पीतबीजा, हि०— मेथी, ते० —मेंतीकुरा, मेन्तुलु, ता — वेन्यदम्, कन्न०—मेन्तिया, मल० — बेन्तियम्, अं० — फेनग्रीक।

1.7.2 स्वरूप — इसका उग्रगन्धि, पौधा 1-2 फीट ऊँचा होता है। पत्र —पक्षवत, त्रिपत्रक होते हैं। पत्रक — आयताकार अभिभालाकार, किंचित दन्तुर, गोलाग्र लम्बे होते हैं। पुष्प — सफेद या पीताभ, अवृन्त 1 या दो एक साथ, नये पत्रों के अक्ष में लगते हैं। फली — पहले सीधी, बाद में हंसुआकृति हो जाती है। प्रत्येक शिम्बी में 10-20 पीताभ, भूरे, आयताकार बीज होते हैं। जिसके एक कोने में गहरा खात होता है। जनवरी—मार्च में पुष्प लगते हैं।

जाति — व्यवहार में एक छोटी और दूसरी बड़ी जाति होती है। छोटी का उपयोग साग-सब्जी में तथा बड़ी, जिसे पंजाब में 'मेथी' कहते हैं, का उपयोग पशुओं के लिये चारे के रूप में होता है।

निघण्टुओं ने इसके ग्राम्य और वन्य भेद भी किये हैं। कृषि से प्राप्त ग्राम्य तथा स्वयं होने वाली जंगली मेथिका है। वन्य मेथिका घोड़ों के लिए प्रशस्त बतलाई गयी है जिसे धन्वन्तरीनिघण्टु में अहित्थ भी कहा गया है। यह वस्तुतः हिस्फित्थ है जो आयुर्वेद में 'अश्वबला' नाम से वर्णित है। इसका ले० नाम मेडिकागो सेटाइचा है।

1.7.3 उत्पत्ति स्थान — यह पंजाब, कश्मीर में वन्य रूप में तथा भारत में प्रायः सर्वत्र उगाई जाती है। इसका मूलस्थान इथियोपिया कहा जाता है।

1.7.4 रासायनिक संघटन — बीजों में आर्द्रता 13.7 प्रोटीन 26.2, वसा 5.8, सूत्र 7.2, कार्बोहाइड्रेट 44.1, भस्म 3.0 प्रतिशत होते हैं। खनिजों में कैल्शियम फास्फोरस, लौह, सोडियम तथा पोटेशियम होते हैं। अनेक विटामिन भी होते हैं। बीजों में एक दुर्गन्धि एवं तिक्त स्थिर तेल तथा भूरे रंग का उग्रगन्ध वाला उड़नशील तेल अल्प मात्रा में होता है। पत्तियों में भी अनेक पोषक तत्व होते हैं।

1.7.5 गुण

गुण — लघु, स्निग्ध **रस** — कटु

विपाक — कटु **वीर्य** — उष्ण

1.7.6 कर्म

दोषकर्म — स्निग्ध, उष्ण होने से विशेषतः वातशामक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — इसका लेप वेदनाहर है तथा शोथ दूर करता है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — नाड़ियों के लिए बलदायक है।

पाचनसंस्थान — यह दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा शूल दूर करने वाला है।

रक्तवहसंस्थान — यह रक्तपित्तप्रकोपक है।

प्रजननसंस्थान — यह दूध की मात्रा बढ़ाता है।

सात्मीकरण — बल्य एवं अंगमद्रप्रशमन (शरीर की पीड़ा व थकावट दूर करने वाला) है।

1.7.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — विशेषतः वातिक विकारों में उपयोगी है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — पीड़ा, शोथ, विद्रधि आदि में इसे पीस कर गरम लेप लगाते हैं।

आभ्यन्तर — नाडीदौर्बल्य में प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान — अग्निमांद्य, कोष्ठगत वातवृद्धि तथा शूल में इसके चूर्ण का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान — रक्तपित्त में इसका प्रयोग वर्जित है।

प्रजननसंस्थान — प्रसव के बाद स्तन्यवृद्धि के लिये प्रसूता स्त्रियों को मेथी मोदक खिलते हैं।

सात्मीकरण — दौर्बल्य तथा उसके कारण समस्त शरीर में अंगमर्द होने पर इसे खिलते हैं।

1.7.8 प्रयोज्य अंग —**1.7.9 मात्रा —** बीजचूर्ण 1-3 ग्रा०**1.7.10 विशिष्ट योग —** मेथीमोदक।**1.8 सौंफ****कुल —** शतपुष्पा— कुल अम्बेलिफेरी — Umbelliferae)।**1.8.1 नाम —** लै०— फीनीक्युलम् वलगेर (Foenieulum vulgare)।

सं०— मिश्रेया, मधुरिका, मधुरा (मधुररसयुक्त), मिशि। हि०—सौंफ, बं०—मौरी, पं०—सोफ, म०—बरियाली, ता०—शौम्बु, ते०—सोपु, कन्न० बड़ी सोपु, फा०—राजियान, अं०—फनेल (Fennel)।

1.8.2 स्वरूप :- इसका सुगन्धित क्षुप 5-6 फीट ऊँचा होता है। पत्र—पक्षवत्, बारीक, अन्तिम विभाग के पत्रक रेखाकार होते हैं। पुष्प — छोटे, पीत, संयुक्त मुण्डकों में होते हैं। फल—आयताकार, अंडाकार या बेलनाकार, 6-7 मि०मी० लम्बे सीधे या कुछ मुड़े हुए, हरे या पीताभ भूरे रंग के, पांच स्पष्ट किन्तु असमान रेखाओं से युक्त होते हैं।**जाति —** वन्य और ग्राम्य मिश्रेया में आकृति गंध तथा रस के अनुसार अनेक भेदोपभेदों की कल्पना की गयी है किन्तु इनमें परस्पर भेद करना कठिन है। व्यापार में इसके दो प्रकार प्रचलित हैं — (1) var. vulgare (2) var. dulce इनके तेल क्रमशः कटु और मधुर होते हैं। भारत में प्रथम प्रकार की अधिकांश खेती होती है।**1.8.3 उत्पत्तिस्थान —** भारत में सर्वत्र इसकी खेती होती है। गृहप्रांगण में उगाये जाने के कारण 'शालेय' और 'शालीन' इसके पर्याय हैं।**1.8.4 रासायनिक संघटन —** इसके बीजों में .7 से 1-2 प्रतिशत तक एक उड़नशील तेल होता है। इसमें एनिथोल (Anethole) नामक मुख्य तत्व 50-60 प्रतिशत होता है। 9-13 प्रतिशत स्थिर तेल मिलता है।**1.8.5 गुण****गुण —** लघु, स्निग्ध **रस—** मधु, कटु, तिक्त**विपाक —** मधुर **वीर्य —** शीत**1.8.6 कर्म****दोषकर्म —** यह मधुर, स्निग्ध होने से वात तथा शीत होने से पित्त का शामक है।**संस्थानिक कर्म—नाडीसंस्थान —** यह मेध्य तथा दृष्टिशक्तिवर्धक है।**पाचनसंस्थान —** प्यास बुझाने वाला, वमन की प्रवृत्ति को दूर करने वाला, दीपन, पाचन, अनुलोमन है। इसकी जड़ रेचन है।**रक्तवहसंस्थान —** यह हृद्य तथा रक्त को शुद्ध करने वाला है।**श्वसनसंस्थान —** कफ निकालता है।**मूत्रवहसंस्थान —** मूत्रल है।**त्वचा —** पसीना लाता है।**तापक्रम —** ज्वरघ्न है तथा दाह को शान्त करता है।

सात्मीकरण — मधुरविपाक होने से बलवर्धक है।

1.8.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—नाडीसंस्थान — मस्तिष्कदौर्बल्य तथा दृष्टिदौर्बल्य में इसका स्वरस देते हैं।

पाचनसंस्थान — वमन, तृष्णा, अग्निमांद्य, अजीर्ण, आघ्मान, उदरशूल प्रवाहिका एवं अर्श में प्रयुक्त होता है। प्रवाहिका में देने से आमदोष का पाचन होता है, वायु का अनुलोमन होने से आमदोष बाहर निकलता है तथा मरोड़ कम होती है। मरोड़ कम करने के लिये विरेचन औषधों के साथ भी इसे मिलाने हैं। रेचन में मूल का प्रयोग करते हैं। अनुलोमन होने से अर्श में लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान — हृदोग तथा रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान — कास, श्वास, में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान — स्तन्याल्पता में और शुक्रवृद्धि के लिये प्रयुक्त होता है।

त्वचा — चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम — ज्वर तथा दाह में प्रयोग होता है।

सात्मीकरण — दौर्बल्य एवं क्षय में उपयोगी है।

1.8.8 प्रयोज्य अंग — फल, तेल, मूल।

1.8.9 मात्रा — फल चूर्ण 3-6 ग्राम, तेल 5-10 बूंद, मूलचूर्ण 3-6 ग्राम, अर्क 20-40 मि०लि०।

1.8.10 विशिष्ट योग — शतपुष्पादि चूर्ण, शतपुष्पार्क।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1— कालीमिर्च का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 2— मेथी मुख्यतः किस रोग में लाभकर है?

प्रश्न 3— सौंफ के प्रयोज्यांग बताइये।

प्रश्न 4— लौंग भारत के निम्न में से किस प्रांत में होती है ?

1.9 सारांश

इस इकाई में आपने अजवायन, कालीमिर्च, सौंठ, लौंग, मेथी, सौंफ का अध्ययन किया। आपने देखा कि किस तरह अजवायन और सौंफ वात का अनुलोमन करके उदरशूल में लाभ करते हैं। आपने देखा होगा हमारे देश में भोजन के पश्चात सौंफ खाने का प्रचलन है इससे अजीर्ण नहीं होता, पाचन होता है और यह पेट की गैस को भी शांत करता है। इसी प्रकार सौंठ दीपन पाचन करती है, कालीमिर्च, लौंग कफ को दूर करती है। मेथी पाचन के साथ साथ मधुमेह को भी दूर रखती है यह शर्करा के चयापचय में लाभकर है। इस इकाई से आपको मसालों के औषधीय उपयोग की जानकारी मिली होगी।

1.10 शब्दावली :-

हि०— हिन्दी, अं०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।
च०—चरकसंहिता, अ०सं०—अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०—अष्टांगहृदय, चक्र०—चक्रदत्त,
यो०र०—योगरत्नाकर, आ०वि०—आयुर्वेदविज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश,
भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता,
सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला,

1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. Piper nigrum, 2. मधुमेह, 3. फल, मूल, तेल 4. केरल

1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ :-

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. सौंठ के गुण व उत्पादन का तरीका बताइये।
2. कालीमिर्च के पौधे का वर्णन करते हुए इसकी फसल से कालीमिर्च प्राप्त करने का तरीका बताइये।

इकाई—2— जीरा, धनिया, इलायची, (छोटी व बड़ी), हल्दी**2.1 प्रस्तावना****2.2 उद्देश्य****2.3 जीरा**

2.3.1 नाम 2.3.2 स्वरूप 2.3.3 उत्पत्तिस्थान 2.3.4 रासायनिक संघटन 2.3.5 प्रयोग 2.3.6 प्रयोज्य अंग 2.3.7 मात्रा 2.3.8 विशिष्ट योग

2.4 धनिया

2.4.1 नाम 2.4.2 स्वरूप 2.4.3 उत्पत्तिस्थान 2.4.4 रासायनिक संघटन 2.4.5 गुण 2.4.6 कर्म 2.4.7 प्रयोग 2.4.8 प्रयोज्य अंग 2.4.9 मात्रा 2.4.10 विशिष्ट योग

2.5 इलायची (छोटी)

2.5.1 नाम 2.5.2 स्वरूप 2.5.3 उत्पत्तिस्थान 2.5.4 रासायनिक संघटन 2.5.5 गुण 2.5.6 कर्म 2.5.7 प्रयोग 2.5.8 प्रयोज्य अंग 2.5.9 मात्रा 2.5.10 विशिष्ट योग

2.6 इलायची (बड़ी)

2.6.1 नाम 2.6.2 स्वरूप 2.6.3 उत्पत्तिस्थान 2.6.4 रासायनिक संघटन 2.6.5 गुण 2.6.6 कर्म 2.6.7 प्रयोग 2.6.8 प्रयोज्य अंग 2.6.9 मात्रा

2.7 हल्दी

2.7.1 नाम 2.7.2 स्वरूप 2.7.3 उत्पत्तिस्थान 2.7.4 रासायनिक संघटन 2.7.5 गुण 2.7.6 दोषकर्म 2.7.7 प्रयोग 2.7.8 प्रयोज्य अंग 2.7.9 मात्रा 2.7.10 विशिष्ट योग

2.8 सारांश**2.9 शब्दावली****2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर****2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ****2.12 निबन्धात्मक प्रश्न****2.1 प्रस्तावना**

इस इकाई में हम जीरा, धनिया, इलायची, हल्दी जैसे मसालों का अध्ययन करेंगे। भारतीय व्यंजनों में ये मसाले बहुतायत में उपयोग किये जाते हैं। इनके प्रयोग का स्वाद के अलावा भी एक विशेष प्रयोजन है। ये कफ का शमन करते हैं, उदररोगों को दूर करते हैं, चेहरे की सुन्दरता को बढ़ाते हैं। इनके अध्ययन से आपको इनके स्वरूप, उपलब्धता के साथ साथ इनको उत्पादन की जानकारी प्राप्त होगी। आप इन्हें अपने घर की वाटिका में भी उगा सकते हैं।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम घर पर सामान्यतः प्रयोग होने वाले मसालों की जानकारी प्राप्त करेंगे। इनका प्रयोग सामान्य बीमारियों को ठीक करने में कैसे हो सकता है।

आकस्मिकता की स्थिति में इन्हें किस प्रकार प्रयोग कर सकते हैं। छोटी सी जगह में, घर की वाटिका में इन्हें कैसे उगाया जाय यह जान सकेंगे।

2.3 जीरा

कुल — शतपुष्पा — कुल — (अम्बेलिफेरी — Umbelliferae)।

2.3.1 नाम — लैटिन — कैरम बल्बोकैस्टेनम (Carum bulbocastanum W. Koch)

संस्कृत — कृष्णजीरक, काश्मीरजीरक

हिन्दी — स्याहजीरा

अंग्रेजी — ब्लैक कैरवे (Black Caraway)

2.3.2 स्वरूप — इसका क्षुप चिकना तथा मूल कन्दमय होता है। काण्ड 6-30 इंच ऊँचा, उत्थित शाखायुक्त होता है। पत्र— द्विधा या त्रिधा पक्षवत् महीन कटे हुए ऊपर के पत्ते अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। पुष्पव्यूह छत्राकार होता है जिसमें लंबे पुष्प होते हैं। फल— लंबे पीताभ भूरे प्रायः चिपचिपे, उभारें पतली और स्पष्ट तथा तैलनलिकायें एकल और बड़ी होती हैं।

2.3.3 उत्पत्तिस्थान — यह कश्मीर, गढ़वाल, कुमाऊँ, अफगानिस्तान और ब्लूचिस्तान में 6-11 हजार की ऊँचाई तक पाया जाता है।

2.3.4 रासायनिक संघटन — इसमें एक सुगंधित तेल 2 प्रतिशत होता है जिसके कारण तीक्ष्ण गंध होती है। कारबी में उड़नशील तैल 22.7-8 प्रतिशत, स्थिर तेल और राल 6.2-10.1 प्रतिशत होती है।

2.3.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

2.3.6 प्रयोज्य अंग — बीज

2.3.7 मात्रा — 1-3 ग्राम।

2.3.8 विशिष्ट योग — जीरकाद्य तैल, जीरकाद्य चूर्ण, जीरकादि मोदक, जीरकाद्यारिष्ट।

2.4 धनिया

गण — तृष्णानिग्रहण, शीतप्रशमन (च०) गुडूच्यादि (सु०)

कुल — शतपुष्पा कुल अम्बेलिफेरी Umbelliferae)।

2.4.1 नाम — लै० कोरिएण्ड्रम (Coriandrum sativum Linn.)।

सं०—धान्यक (क्षुद्र धान्य के सदृश बीज होने के कारण), छत्रा (छत्राकार पुष्प वाला), कुस्तुम्बुरु (कुत्सित रोग समूह तुम्बति अर्दयति इति—जो रोग समूह को नष्ट करे त्रिदोषहर होने के कारण) हिं०—धनियां, बं०—धणे, गु०—धाणा, ता०—कोतामल्लि, ते०—धनियालु, क०—कोथम्बरी, मल०—कोथुमपलरी, अं० कोरिएण्डर (Coriander)।

2.4.2 स्वरूप — इसका वर्षायु कोमल शाखा—प्रशाखायुक्त, गंधयुक्त, 1-3 फीट ऊँचा होता है। पत्र— पक्षवत्, विभक्त होते हैं जिसमें नीचे के पत्रक लट्वाकार, खंडयुक्त तथा दन्तुर और ऊपर के पत्रक रेखाकार होते हैं। पुष्प—श्वेत या बैंगनी संयुक्त अन्त्य मुण्डकों में होते हैं। फल—गोलाकार, पीताभ, भूर, धारीदार होते हैं जो दबाने पर दो

भागों में विभक्त हो जाते हैं जिसमें एक बीज होता है। शीतऋतु के अंत में फूल और फल होते हैं।

2.4.3 उत्पत्तिस्थान — समस्त भारत में इसकी खेती होती है।

2.4.5 रासायनिक संघटन — फलों में आर्द्रता 11.2, प्रोटीन 14.1, वसा 16.1, कार्बोहाइड्रेट 21.6, सूत्र 32.6 खनिज पदार्थ 4.4, कैल्शियम 0.63, फास्फोरस 0.37 प्र०श० तथा लौह 17.9 मि०ग्राम होता है। इसकी गंध और स्वाद का कारणभूत एक सुगंधित तेल 0.5 प्रतिशत होता है। इस तेल का मुख्य घटक कोरिएण्ड्रोल है जो 45-70 प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त एक स्थिर तेल 19-20 प्रतिशत होता है।

2.4.6 गुण

गुण — लघु, स्निग्ध **रस** — कसाय, तिक्त, मधुर, कटु

विपाक — मधुर **वीर्य** — उष्ण

2.4.7 कर्म

दोषकर्म — यह त्रिदोषहर है, स्निग्ध—उष्ण होने के कारण वात को कषाय—तिक्तमधुर होने से पित्त को तथा तिक्त—कटु और उष्ण होने से कफ का शामक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य— धनियां का बाह्य लेप शोथहर और शूलहर है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान —यह मस्तिष्क के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान — यह तृष्णा, रोचन, दीपन, पाचन, ग्राही और कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान — यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्रजनन और मूत्रविजरनीय है।

प्रजननसंस्थान — यह कषाय होने से शुक्रधातु को क्षीण करता है।

तापक्रम — यह ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है।

2.4.8 प्रयोग

दोषप्रयोग — इसका प्रयोग त्रिदोषजन्य विकारों में करते हैं

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — हरी धनियां की पत्ती पीस कर शिरःशूल तथा भल्लातकजन्य शोथ पर लेप करते हैं। पैत्तिक, शोथ, विसर्प, गण्डमाला आदि पर भी इसका लेप करते हैं। मुखपाक या गले के रोगों में हरे धनिये के रस से गण्डूष करते हैं। रक्तपित्त में विशेषतः नासा से रक्तस्राव होने पर इसका रस नाक में देते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका रस या क्वाथ नेत्र में डालते हैं। शिरःशूल में सूखी धनियां का भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — धनियां का छिलका उतार कर उसकी मज्ज से क्षीरपाक कर उस दुग्ध का सेवन भ्रम, मूर्च्छा, स्मृतिहास आदि रोगों में करते हैं।

पाचनसंस्थान — तृष्णारोग में इससे श्रुतशीत जल का प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त, अरूचि, वमन, अग्निमांदा, अजीर्ण, प्रवाहिका, अतिसार, उदरशूल, अर्श एवं कृमिरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान — कास—श्वस में यह लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्रकृच्छ्र तथा पैत्तिक प्रमेह में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान — कामोन्माद में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम — ज्वरों में देने से ज्वर तथा उसके उपद्रव शांत होते हैं। शीतज्वर में विशेष लाभकर है। चीनी के साथ इसका हिम बना कर देने से वातपैत्तिक रोग यथा दाह, तृष्णा आदि में लाभकर होता है।

2.4.9 प्रयोज्य अंग — फल, पंचाग (हरी धनिया का), तेल।

2.4.10 मात्रा — चूर्ण 3-6 ग्राम, हिम 20-24 मि०लि०, तेल 1-3 बूंद।

2.4.11 विशिष्ट योग — धान्यकादि हिम, धान्यचक क्वाथ।

2.5 इलायची (छोटी)

गण — कटुस्कन्ध, श्वासहर, अंगमर्दप्रशमन, शिरोविरेचन (च०) एलादि (सु०)

कुल — आर्द्रक — कुल (जिंजिबरेसी— Zingiberaceae)।

2.5.1 नाम — लै० एलिटेरिआ कार्डेमोमम् (Elettaria cardamomum Maton)।

सं०—एला, त्रिपुटा, त्रुटि, सूक्ष्मैला, द्राविडी, हि०—छोटी इलायची, गु०, वं०—छोटा एलाच, म०—बेलची, वेलदोडे, गु०—एलची, ता०—येलाक्क, ते०—येलाक्कपालु, मल०—येलम्, कन्न०—येलाक्कि, फा०—हीलबक, इलायची खुर्द, अं०लेसर कार्डेमम (Lesser cardamom)।

2.5.2 स्वरूप — यह पत्रमय बहुवर्षीय क्षुप होता है। इसके भूमिशायी शाखायुक्त मूलस्तंभ से अनेक 5-48 फीट ऊँचे पत्रमय काण्ड निकलते हैं जिन पर 1-3 फुट लंबे एकान्तर, अंडाकार या भालाकार, कोषमय पत्र निकलते हैं। पुष्पमंजरी — 2-4 फीट लंबी, काण्ड के मूलभाग से निकलती है। जिसमें लम्बे, श्वेत हलके हरे रंग के द्विलिंगी पुष्प लगते हैं। फल—त्रिकोष्ठीय, मूलाकाकार से अण्डाकार तक हलके हरे या पीले रंग के होते हैं जिसके भीतर 15-20 कड़े, भूरे काले, कोणीय, सिकुड़नयुक्त बीज होते हैं।

जाति — फल की आकृति के अनुसार इसके दो भेद किए गये हैं। :-

(1) Var. Major Thw. इसमें फल बड़े आते हैं। श्रीलंका की वन्य जाति इसके अन्तर्गत आती है।

(2) Vas minor Watt. इसमें फल छोटे आते हैं। भारत में उगाई जाने वाली जातियां इसी के अन्तर्गत आती हैं। भारतीय जाति मुख्यतः दो प्रकार की होती है।

1. मालाबारी इलायची

2. मैसूरी इलायची

मालाबारी इलायची का पौधा अपेक्षाकृत छोटा, पत्तियां छोटी, पुष्पमंजरी भूमिशायी, फल गोलाकार या अण्डाकार होता है। मैसूरी इलायची का पौधा बड़ा, १७ फीट तक ऊँचा, पत्तियां बड़ी पुष्पमंजरी उत्थित तथा फल मूलाकाकार, त्रिकोणीय और पर्शुकी होते हैं।

व्यापार में भी दो प्रकार की इलायची चलती है —

- 1- कुर्ग मैसूर, 2.टूरिकोरिन। पहली कुर्ग— मैसूर में होने वाली मालाबारी इलायची है और दूसरी तमिलनाड के दक्षिण क्षेत्र तथा ट्रावनकोर—कोचीन में होने वाली मैसूरी इलायची है।

2.5.3 उत्पत्तिस्थान — मैसूर, कुर्ग, ट्रावनकोर—कोचीन तथा श्रीलंका और वर्मा में विशेष होती है। पश्चिमी घाट के सदाहरित वनों में 2500 से 5000 फीट की ऊँचाई तक वन्य रूप से पाई जाती है।

2.5.4 रासायनिक संघटन — बीजों में उड़नशील तेल 2.8 प्रतिशत, पोटेशियम लवण 3 प्रतिशत, स्टार्च 3 प्रतिशत, पिच्छिल द्रव्य 2 प्रतिशत, पीत रजक द्रव्य, भस्म 6-10 प्रतिशत (जिसमें मैंगनीज होता है) रहते हैं। तेल में मुख्य घटक cineol, terpineol terpinene, limonene तथा sabinene होते हैं।

2.5.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष **रस** — कटु, मधुर

विपाक — मधुरवीर्य — शीत

2.5.6 कर्म

दोषकर्म — यह त्रिदोषहर है। गुण और रस से कफ का, विपाक से वात का तथा वीर्य से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म—पाचनसंस्थान — मुखशोधन, दुर्गन्धनाशन, छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण, रोचन, दीपन, पाचन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान — हृद्य है।

श्वसनसंस्थान — कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रजनन है।

तापक्रम — दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण — बल्य है।

2.5.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह वात, पित्त और कफ से उत्पन्न विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—पाचनसंस्थान — मुखरोग, वमन, हृल्लास, तृष्णा, अरूचि, अग्निमांद्य, उदरशूल, आघ्मान तथा अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान — हृदौर्बल्य में देते हैं।

श्वसनसंस्थान — कास, श्वास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।

तापक्रम — दाहरोग में देते हैं।

सात्मीकरण — दौर्बल्य तथा क्षय में प्रयोग करते हैं।

2.5.8 प्रयोज्य अंग — बीज

2.5.9 मात्रा — .5-6 ग्राम।

2.5.10 विशिष्ट योग — एलादिचूर्ण, एलाद्यरिष्ट, एलादिगुटिका, एलादिक्वाथ।

2.6 इलायची (बड़ी)

कुल — आर्द्रक — कुल — (जिंजिबरेसी— Zingiberaceae)।

2.6.1 नाम — लै०— ऐमोमम् सबुलेटम (Amomum subulatum Roxb.)।

सं०— वृहदेला, स्थूलैला, भद्रैला, बहुला; हि०— बड़ी इलायची, वं०—बड एलाच, नेपाली एलाच, गु०—हीलकलां, इलायची सुर्ख, अं०—ग्रेटर कार्डेमम् (Greater cardamom) नेपाल कार्डेमम (Nepal cardamom)।

2.6.2 स्वरूप — इसका क्षुप 3-3 फीट ऊँचा होता है। पत्तियां 1-2 फीट लंबी, 3-4 इंच चौड़ी, दोनो पृष्ठों पर चिकनी होती है। पुष्पमंजरी — अत्यन्त सघन, 2-3 इंच लम्बी होती है। कोणपुष्पक— लाल—भूरे होते हैं। पुष्प — पीताभ श्वेत तथा फल लगभग 1 इंच लंबा, रक्ताभ भूरा, गोलाकार सघन कठिन रोमों से आवृन्त होता जिसके प्रत्येक कोष्ठ में अनेक बीज सान्द्र मधुर मज्जा में संसक्त रहते हैं।

जाति — इसकी एक प्रजाति A. Aromaticum Roxb. 'मोरंग इलायची' (Bengal - cardamom) के नाम से प्रचलित है। यह पूर्वी बंगाल और आसाम में होती है। एक विदेशी प्रजाति (A. xanthioides wall.) मालाबार या टेवॉय कार्डेमम (Malabar or tavoy cardamom) है जो वर्मा, वियतनाम तथा मलेशिया से आता है।

2.6.3 उत्पत्तिस्थान — यह पूर्वी हिमालयप्रदेश में विशेषतः नेपाल, बंगाल, सिक्किम, आसाम आदि स्थानों में लगाया जाता है।

2.6.4 रासायनिक संघटन — इसके बीजों में एक सुगन्धित तेल होता है। जिसमें सिनिओल (Cineole) की प्रचुर मात्रा होती है।

2.6.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष **रस** — कटु, तिक्त

विपाक — कटु **वीर्य** — उष्ण

2.6.6 कर्म

दोषकर्म — यह कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह दुर्गन्धनाशन, शूलहर, त्वग्दोषहर और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान — यह रोचन, दीपन, पाचन, पीतसारक और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान — हृदयोतेजक है।

श्वसनसंस्थान — कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रल है।

त्वचा — त्वग्दोषहर है।

तापक्रम — ज्वरघ्न और शीतप्रशामन है।

सात्मीकरण — विषघ्न है।

2.6.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — मुखरोगों तथा दंतरोगों में इसके क्वाथ से कुल्ला करते हैं।

शिरःशूल में इसका लेपन करते हैं। कण्डू आदि चर्मरोगों में लेप देते हैं।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — वेदनाप्रधान वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान — अरूचि, हृल्लास, वमन, तृष्णा, अग्निमांद्य शूल, आघ्मान, यकृद्विकार तथा अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान — हृदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान — कास, श्वास में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा — चर्मरोगों में प्रयोग करते हैं।

तापक्रम — ज्वर तथा शीत में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण — विष में देते हैं।

2.6.8 प्रयोज्य अंग — बीज

2.6.9 मात्रा — 1-3 ग्राम।

2.7 हल्दी

गुण — कुष्ठघ्न, लेखनीय, कण्डूघ्न, विषघ्न, तिक्तस्कन्ध, शिरोविरेचन (च०) हरिद्रादि, मुस्तादि, श्लेष्मसंशमन (सु०)

कुल आर्द्रक कुल (जिजिबरेसी — Zingiberaceae)।

2.7.1 नाम — लै० कर्कुमा लौगा (curcuma longa)।

सं० हरिद्रा (हरि वर्ण द्राति संशोधयति जो शरीर के वर्ण को ठीक करे) काचनी (सुवर्ण के समान पीतवर्ण होने के कारण), निशा (चांदनी रात की तरह सुन्दर) वरवर्णिनी (सुन्दर वर्ण वाली), गौरी (पीतवर्ण होने से), कृमिघ्ना (कृमिनाशक होने के कारण), योषित्प्रिया (उबटन इत्यादि तथा स्त्रीरोगों में उपयोगी होने के कारण), हृष्टविलासिनी (बाजारों की शोभा बढ़ाने वाली) हि० हल्दी, हरदी, पं० हरदल, वं० हलुद, गु० हलदर, ते० पसुपु, म० हलद, अ० कुकुम, फा० जर्दचोच, अं० टर्मेरिक (Turmeric)

2.7.2 स्वरूप — इसका बहुवर्षीय क्षुप 2-3 फीट ऊँचा होता है। पत्र आयताकार डेढ़ से दो फीट लंबे, लगभग 6 इंच चौड़े, उतने ही लंबे पत्रवृन्त से लगे रहते हैं। पत्र की मुख्य पार्श्वसिरायें 20-30 उठी होती हैं। पत्तियां दोनो पृष्ठों पर चिकनी होती हैं किन्तु उन पर सूक्ष्म सफेद बिन्दु होते हैं। पत्राधार संकीर्ण होता है। आम की तरह गन्ध आती है। पुष्पदण्ड 6 इंच लंबा पत्रकोष से आवृत्त होता है जिसमें पीतवर्ण लगभग डेढ़ इंच लंबे पुष्प निकलते हैं। पुष्पदण्ड के पत्र हलके हरे रंग के होते हैं। इसका कन्द अदरक के सदृश किन्तु उससे बड़े, भीतर की ओर चमकीले पीले होते हैं। शरदऋतु में पुष्प निकलते हैं।

2.7.3 उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में विशेषतः बंगाल, बम्बई और तमिलनाडु में इसकी खेती होती है।

हल्दी के कन्दों को बाजार में लाने से पहले उबाल दिया जाता है जिससे वे मुलायम हो जाते हैं। फिर सुखाकर रगड़ते हैं जिससे उपरी आवरण हट कर रंग में निखार आ जाता है। इस रूप में यह मूल द्रव्य का 17-25 प्रतिशत प्राप्त होता है।

2.7.4 रासायनिक संघटन — इसमें उड़नशील तेल 5-8 प्रतिशत, कर्कुमीन नामक पीतरक्षक द्रव्य होते हैं। इनके अतिरिक्त विटामिन ए, प्रोटीन 6-3 प्रतिशत, स्नेहद्रव्य 5.1 प्रतिशत, खनिज द्रव्य 3.5 प्रतिशत तथा कार्बोहाइड्रेट 69.4 प्रतिशत होता है।

2.7.5 गुण

गुण — रूक्ष, कटु **रस** — तिक्त, कटु

विपाक — कटु वीर्य — उष्ण

2.7.6 दोषकर्म — उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक, पित्तरेचक और तिक्त होने से पित्तशामक भी है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — इसका लेप, शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य, कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, वर्णरोपण, लेखन है। इसका धूम हिक्कानिग्रहण, श्वांसहर और विषघ्न है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — यह उष्ण होने से वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान — यह रूचिवर्धक, अनुमोलन, पित्तरेचक एवं कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान — तिक्त होने से यह रक्तप्रसादन, रक्तवर्धक एवं रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान — तिक्त होने से यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्रसंग्रहणीय एवं मूत्रविरजनीय है। प्रमेह के लिये यह श्रेष्ठ है।

प्रजननसंस्थान — यह उष्ण होने से गर्भाशयशोधन तथा तिक्त होने से स्तन्यशोधन एवं शुक्रशोधन है।

त्वचा — यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम — पित्तशामक एवं आमपाचन होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — यह कटुपौष्टिक एवं विषघ्न है।

2.7.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह वात, पित्त, कफ तीनों दोषों से उत्पन्न विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः कफपित्तशामक है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — शोथ—वेदनायुक्त विकारों में विशेषतः आघात लगने पर इसका लेप करते हैं। कुष्ठ कण्डू आदि त्वग्दोषों में इसे लगाते हैं। वर्ण को सुधारने के लिये उबटन में भी प्रयुक्त होता है। व्रणों के पाचनार्थ इसकी पुल्टिस लगाते हैं तथा शोधन एवं रोपण के लिये इसका चूर्ण या मलहम लगाते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका आश्वोतन तथा विडालक देते हैं। यकृतप्लीहा की वृद्धि होने पर इसका लेप यकृतप्लीहा के प्रदेश में करते हैं। अर्श में भी इसका लेप लगाते हैं। हल्दी के टुकड़े या चूर्ण को अंगारों पर रखने से जो धूम निकलता है वह मूच्छर्मा, श्वांस एवं हिक्का रोगों में प्रयुक्त होता है इस धूम से वृष्विकदंश की वेदना भी शांत होती है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — अभिघातज वेदना तथा नाडीशूल में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान — अरूचि, विबन्ध, कामला, जलोदर एवं कृमि में प्रयोग किया जाता है।

रक्तवहसंस्थान — यह रक्तविकार, शीतपित्त, पाण्डु तथा रक्तस्राव में प्रयुक्त होता है। शीतपित्त की यह उत्तम औषध है।

श्वसनसंस्थान — यह कास एवं श्वासकष्ट में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान — प्रमेहरोग में इसका स्वरस या चूर्ण देते हैं।

प्रजननसंस्थान — प्रसव के बाद एवं स्तन्यविकारों में हल्दी का सेवन कराते हैं। शुक्रमेह में भी यह लाभकर है।

त्वचा — कुष्ठ, कंडू, उदरद विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम — जीर्णज्वर में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य तथा विष की अवस्थाओं में उपयोगी है।

2.7.8 प्रयोज्य अंग — कन्द

2.7.9 मात्रा — स्वरस 10-20 मि.लि० चूर्ण 1-3 ग्रा।

2.7.10 विशिष्ट योग — हरिद्रखण्ड।**अभ्यास प्रश्न :-**

- प्रश्न 1— हल्दी का लैटिन नाम बताइये।
 प्रश्न 2— धनिया का प्रयोज्यांग क्या है?
 प्रश्न 3— बड़ी इलायची के प्रयोज्यांग बीज की प्रयोग की जाने वाली सामान्य मात्रा बताइये।
 प्रश्न 4— जीरे का होता है ?

2.8 सारांश

इस इकाई में आपने जीरा, धनिया, छोटी इलायची, बड़ी इलायची, हल्दी के औषधीय गुण—कर्म, स्वरूप, उत्पत्ति आदि के बारे में जानकारी प्राप्त की। जीरा, इलायची पाचक है और उदर रोगों में लाभकर है, हल्दी सोन्दर्यवर्द्धक है साथ ही अच्छा व्रणरोपक है। हल्दी में जीवाणुनाशक गुण भी हैं। ये मसाले भोजन को रूचिकर बनाने के साथ साथ रोगों को दूर रखते हैं। आशा है इस इकाई के अध्ययन से आपको इनके संतुलित प्रयोग के बारे में काफी जानकारी हुई होगी।

2.9 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अं०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।
 च०—चरकसंहिता, अ०सं०—अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०—अष्टांगहृदय, चक्र०—चक्रदत्त,
 यो०र०—योगरत्नाकर, आ०वि०—आयुर्वेदविज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश,
 भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता,
 सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला,

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :-

1. Curcuma longa 2. फल, पंचांग, तेल, 3. 1 - 3 ग्राम 4. ग. क्षुप

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ :-

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginous Drugs of India, Calcutta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

2.12 निबंधात्मक प्रश्न :-

1. हल्दी के गुण व उत्पादन का तरीका बताइये।
 2. छोटी इलायची व बड़ी इलायची के बाह्य स्वरूप में अन्तर स्पष्ट करते हुए इनके उपयोग बताइये।

इकाई—3— दालचीनी, तेजपत्ता, जायफल, जावित्री, केसर**3.1 प्रस्तावना****3.2 उद्देश्य****3.3 दालचीनी**

3.3.1 नाम 3.3.2 स्वरूप 3.3.3 उत्पत्तिस्थान 3.3.4 रासायनिक संघटन
3.3.5 गुण 3.3.6 कर्म 3.3.7 प्रयोग 3.3.8 प्रयोज्य अंग 3.3.9 मात्रा

3.4 तेजपत्ता**3.5 जायफल**

3.5.1 नाम 3.5.2 स्वरूप 3.5.3 उत्पत्तिस्थान 3.5.4 रासायनिक संगठन 3.5.5
गुण 3.5.6 दोषकर्म 3.5.7 प्रयोग 3.5.8 प्रयोज्य अंग 3.5.9 मात्रा 3.5.10
विशिष्ट योग

3.6 जावित्री**3.7 केसर**

3.7.1 नाम 3.7.2 स्वरूप 3.7.3 उत्पत्तिस्थान 3.7.4 रासायनिक संघटन 3.7.5
गुण 3.7.6 कर्म 3.7.7 प्रयोग 3.7.8 प्रयोज्य अंग 3.7.9 मात्रा 3.7.10 विशिष्ट
योग

3.8 सारांश**3.9 शब्दावली****3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर****3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ****3.12 निबन्धात्मक प्रश्न****3.1 प्रस्तावना**

इस इकाई में हम ऐसे मसालों का अध्ययन करेंगे जो भोजन को सुगन्धित तो करते ही हैं, अपने विशेष औषधीय गुणों के कारण भी लाभ देते हैं। दालचीनी, तेजपत्ता, जावित्री, जायफल, केसर आदि सुगन्धित मसाले भोजन का स्वाद तो बढ़ाते ही हैं, पाचकाग्नि बढ़ाते हैं, साथ ही श्वास कास, कफ को दूर करते हैं। ये मसाले शरीर में रोगों से लड़ने की क्षमता भी पैदा करते हैं।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि सुगन्धित मसाले खाने का स्वाद बढ़ाने के साथ साथ रोगों को दूर करने में किस प्रकार सहायक होते हैं। इनमें से कौनसा मसाला किस रोग में लाभ करता है। इनकी कितनी मात्रा प्रयोग करनी चाहिए। इनके स्वरूप, उपलब्धता, उत्पत्ति स्थान आदि के बारे में जानेंगे।

3.3 दालचीनी

गण — एलादि (सु०), त्रिजात (अ०वृ०)।

कुल — कर्पूर कुल लॉरैसी Lauraceae)।

3.3.1 नाम — लै० सिनेमोमम् जिलेनिकम (Cinnamomnm zeylanicum)।

सं० त्वक् (छाल का प्रयोग होने के कारण), उत्कट (तीक्ष्ण होने के कारण), हि० दालचीनी, बं० दारूचिनि, म० गु० तज, ता० कारूया, ते० सानुलिफु, अ० दारसीनी, किर्फा, फा० दारचीनी, अं० सिनेमन (Cinnamon)।

3.3.2 स्वरूप — इसका सदाहरित प्रायः 20-25 फीट (श्रीलंका में 60फीट तक) ऊँचा होता है। इसकी छाल नये वृक्षों से लेने पर चिकनी पाण्डुवर्ण तथा पुराने वृक्षों की रूखड़ी और भूरे रंग की, प्रायः 5 मि०मी० मोटी और भंगुर होती है। लगभग काण्डसार हलके भूरे रंग का किंचित् सुगन्धित होता है। पत्र अभिमुख, चर्मवत् लंबे होते हैं। उनका ऊपरी भाग चमकीला होता है और सिरायें 3-5 होती है। पत्तियों के मसलने पर तीक्ष्ण गंध आती है, स्वाद भी इनका कटु होता है। पुष्प लंबे पुष्पदंडों पर, गुच्छों में दुर्गन्धयुक्त होते हैं। फल लम्बे, अण्डाकार गहरे बैंगनी रंग के घटिकाकार परिपुष्प से आवृत होते हैं जिनके भीतर एक बीज होता है। फलों को तोड़ने पर भीतर से तारपीन की सी गंध आती है। पुष्प जनवारी में तथा फल मई—अगस्त में पकते हैं।

जाति — देशभेद से यह व्यवहार में तीन प्रकार की मिलती है — (1) चीनी यह चीन से आती है। यह कैशिया सिनेमन के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी छाल मोटी होती है। (2) सिंहली यह लंका से आती है और सबसे पतली, चीनी जाति से अधिक मधुर तथा कम तीक्ष्ण होती है। यहां इसी का वर्णन किया गया है। भावप्रकाश ने इसी का वर्णन दारूसिता के नाम से किया है। तनुत्वक् तथा स्वादुत्वक् इसके पर्याय हैं। (3) भारतीय यह हिमालय प्रदेश में 3-8 हजार की ऊँचाई पर विशेषतः आसाम और सिक्किम में मिलती है। इसका लैटिन नाम 'सिनेमोमम् तमाल' है। यह मोटी, कम तीक्ष्ण तथा जल में पीसने से लुआबदार हो जाती है। इसी के पत्र का व्यवहार 'तेजपत्र' के नाम से होता है। व्यवहार में सिंहली जाति को दालचीनी तथा चीनी तथा भारतीय जाति को 'तज' कहते हैं बंगाली कविराज सभवतः चीनी जाति को 'नालुका' के नाम से शोथहर लेप के रूप में व्यवहार करते हैं। इन सबमें सिंहली सर्वोत्तम मानी जाती है क्योंकि यह विशेष सुगंधि और मधुर होती है।

3.3.3 उत्पत्तिस्थान — यह दक्षिणपश्चिम भारत में समुद्र किनारे तथा श्रीलंका में 3500 फीट की ऊँचाई तक होता है।

3.3.4 रासायनिक संघटन — छाल में एक तेल आधे से एक प्रतिशत होता है जिसमें cinnamaldehyde 50-65 प्रतिशत तथा Eugenol 60-75 प्रतिशत होता है। यह हलके पीले रंग का किन्तु रखने पर लाल हो जाता है। पत्तियों से गहरे भूरे रंग का फल तथा लवंग के सदृश गंध वाला तेल निकलता है। यह कनारा तथा मालाबार में विशेषतः बंगलोर में निकाला जाता है। पत्तियों के तेल में लवंग के समान यूजिनोल 70-95 प्रतिशत होता है। मूलत्वक् से 3प्रतिशत रंगहीन कर्पूरगंधि तेल निकलता है। बीजो से 33 प्रतिशत स्थिर तेल निकलता है।

3.3.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण रस — कटु, तिक्त, मधुर
विपाक — कटु वीर्य — उष्ण।

3.3.6 कर्म

दोषकर्म — यह उष्ण होने से कफवातशामक एवं पित्तवर्धक है। जिसमें माधुर्य अधिक होता है वह पित्तशामक होता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह रक्तोत्त्वलेशक, उत्तेजक, वेदनास्थापन एवं लेखन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — यह नाडीसंस्थान का उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान — यह कटु तिक्त और उष्ण होने से दीपन, पाचन, वातानुलोमन यकृतोत्तेजक एवं ग्राही है। यह जन्तुओं को भी नष्ट करता है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृदयोत्तेजक, ओजोवर्धक तथा रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान — यह श्लेष्महर और यक्ष्मनाशक है। इसमें स्थित सिनेमिक एसिड नामक तत्व यक्ष्मनाशक माना जाता है।

मूत्रवहसंस्थान — यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से वृक्कों को उत्तेजित करता है, अतः यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान — यह गर्भाशयसंकोचक तथा बाजीकरण है।

3.3.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — मुखशोधन, मुखदुर्गन्धनाशन एवं दाँतों को मजबूत बनाने के लिये दालचीनी मुख में रखते हैं। इससे वमन और उत्क्लेश भी बंद होता है।

न्यच्छ, व्यंग आदि चर्मरोगों में इसका पतला लेप करते हैं। नाडीशूल एवं शिरशूल में इसका लेप लाभकर है। शोथवेदनायुक्त स्थानों पर भी इसका लेप करते हैं। दाँतों में

कोटर और शूल होने पर दालचीनी का तेल 1-3 बूंद रूई में देकर कोटर में रखते हैं या दाँतों के तले दबाते हैं। ध्वजभंग में इसके तेल का शिशन पर मर्दन करते हैं या पीस कर लेप करते हैं। बिच्छू आदि के काटने पर भी दंशस्थान में इसका तेल लगाते हैं। इससे शोथ और वेदना शांत हो जाती है। क्षयज व्रण पर इसका तेल लगाने से शीघ्र शोधन और रोपण होता है।

आभ्यन्तर — नाडीसंस्थान — नाडीदौर्बल्य, पक्षाघात आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान — अरूचि, अग्निमांद्य, आमदोष, उदरशूल, ग्रहणी तथा अर्श में लाभकर है। जन्तुघ्न भी होने से आन्त्रिक ज्वर में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृदौर्बल्य में उपयोगी है। अनेक रक्तविकारों तथा जीवाणुजन्य रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान — यह श्लेष्महर होने से कास, श्वास में प्रयुक्त होता है। राजयक्ष्मा में इसका तेल खिलाते हैं या सूचीवेध से देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्रकृच्छ, पूयमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान — यह रजोरोध, गर्भाशयशैथिल्य एवं क्लैव्य रोग में उपयोगी है।

3.3.8 प्रयोज्य अंग — त्वक्, तेल, पत्र।

3.3.9 मात्रा — त्वक्चूर्ण 1-3 ग्राम, पत्रचूर्ण 1-3 ग्राम, तेल 2-5 बूंद।

3.4 तेजपत्ता

उपर विस्तार से दालचीनी के वृक्ष का वर्णन किया गया है, इसकी तीन प्रजातियाँ मुख्यरूप से पाई जाती हैं— चीन में पाई जाने वाली चीनी प्रजाति, श्रीलंका में

बहुतायत में होने वाली सिंहली प्रजाति तथा भारत में होने वाली प्रजाति। भारतीय प्रजाति का नीचे वर्णन किया जा रहा है, इसके पत्रों को दाल, चावल, पुलाव आदि में पकाकर खाया जाता है। यह हिमालयी क्षेत्र में 3-8 हजार की ऊँचाई पर विशेषतः आसाम और सिक्किम में मिलती है। इसका लैटिन नाम 'सिनेमोमम् तमाल', (*Cinnamomum tamala*) है। यह मोटी, कम तीक्ष्ण तथा जल में पीसने से लुआबदार हो जाती है। इसी के पत्र का व्यवहार 'तेजपत्र' या तेजपत्ता के नाम से होता है। व्यवहार में सिंहली जाति को दालचीनी तथा चीनी तथा भारतीय जाति को 'तज' कहते हैं बंगाली कविराज संभवतः चीनी जाति को 'नालुका' के नाम से शोधहर लेप के रूप में व्यवहार करते हैं।

3.5 जायफल

कुल — जातीफल कुल (मिरिस्टिकेसी — *Myristicaceae*)।

3.5.1 नाम — लै० मिरिस्टिका फ्रैगरेन्स (*Myristica fragrance*)।

सं० जातीफल (गंधयुक्त फल), जातिकोष (सुगन्धितकोषयुक्त) मालतीफल, हि०, ब०, म० गु०, जायफल; ता०, ते०, कन्न०, मल०, जाजिकाई; अं० जौजबुवा; फा० जौजबुया; अं० नटमेग ट्री (*Nutmeg tree*)।

3.5.2 स्वरूप — इसका वृक्ष कोमलशाखायुक्त, सुगन्धित, 30-40फीट ऊँचा होता है। पत्र तीन से साढ़े तीन इंच लम्बे, चर्मवत्, अंडाकार—आयताकार या भालाकार, लंबाग्र तीक्ष्णधार, हल्के पीले—भूरे रंग के, अधः पृष्ठ पर लाल—भूरी सिरायें होती है। पत्र वृत्त 1/4—1/2 इंच लम्बा होता है। पुष्प एकलिंगी, छोटे सुगन्धित और पीतवर्ण, छत्राकार मंजरियों में होते हैं। फल गोलाकार या अंडाकार, डेढ़ से तीन इंच लम्बे, चिकने, छोटे नाशपाती या अमरूद के सदृश लटकते हुए होते हैं। फलत्वचा पीली और मोटी होती है जो पकने पर दो भागों में फट जाती है। फलमज्जा के भीतर अंडाकार, कवचयुक्त, पिच्छिल, भूरे रंग का कठिन बीज होता है। बीज के ऊपर एक रक्ताभ पीले रंग का मांसल कवच होता है जो सूखने पर उससे पृथक हो जाता है। इसे 'जातिपत्री' कहते हैं। फल पकने पर स्वयं फट जाता है और जावित्री तथा बीज बाहर निकल आते हैं।

जाति — इसकी एक प्रजाति दक्षिण भारत में होती है जिसके फल लम्बे, बीज और कवच निर्गन्ध और स्वाद रहित होते हैं। ये बम्बइया जायफल या जावित्री कहे जाते हैं। एक दूसरी प्रजाति भी है। इनका अपमिश्रण जायफल में किया जाता है।

व्यापार में इसकी दो मुख्य जातियां स्वीकृत हैं -3पूर्व भारतीय -2 पश्चिम भारतीय जो क्रमशः इण्डोनेशिया और ग्रिनाडा द्वीप से प्राप्त किये जाते हैं। पूर्व भारतीय जायफल भी तीन तरह का आता है — 1. बांदा जायफल, 2. सियाव जायफल, —3 पेनांग जायफल। इनमें पहला उत्तम होता है जिसमें 8प्रतिशत सुगन्धित तैल होता है। एक चौथी जाति पैपुआ जायफल भी *M. argentea* warb. नामक वृक्ष से आता है। यह अल्पगन्धि होता है।

3.5.3 उत्पत्तिस्थान — यह मोलक्कस का मूल निवासी है किन्तु अब मलाया द्वीपपुंज, पेनांग, लंका तथा दक्षिण भारत में उगाया जाता है। पौधे बीज या कलम से उगाये जाते हैं। जायफल और जावित्री का बाहर से आयात होता है।

संग्रहविधि — लगभग 7वर्ष की आयु में 70-80वर्ष तक पौधे फल देते हैं किन्तु मुख्य फसल जून-अक्टूबर में ली जाती है। पके हुये फल जब फट कर गिर जाते हैं तब उन्हें चुन लिया जाता है या पेड़ पर से ही अंकुशयुक्त छड़ी के सहारे उतार लेते हैं। बीजों को भी चुन लेते हैं। फलों से बीजों को पृथक कर तथा उपरी कवच हटा कर सुखाते हैं। जब हिलाने से भीतर आवाज होने लगती है तब हथोड़ी मारकर बीजावरण को पृथक कर गिरी को निकाल लेते हैं। यही जायफल है। कवच को अलग से छाया में सुखाकर जावित्री बनाते हैं।

जायफल अंडाकार 2-2.5से०मी० लम्बा, 1.5—2.8से०मी० व्यास का, धूसराभ भूरे रंग का, सूक्ष्म रक्ताभ, भूरे दागों और रेखाओं से युक्त, जालीदार परिखायुक्त होता है। काटने पर इसका पुष्ट भाग मोम की तरह तथा चित्रित होता है। इसमें तीव्र गन्ध तथा कटु स्वाद होता है। फल का बाह्य भाग खट्टा, कषाय और सुगन्धित होता है। इसका अचार लगाते हैं।

3.5.4 रासायनिक संगठन — जायफल में उड़नशील तैल 6-16प्रतिशत एक स्थिर तैल (38-4प्रतिशत), प्रोटेन (7.5प्रतिशत), स्टार्च (14.6—24.2प्रतिशत), खनिज द्रव्य 1.7प्रतिशत होते हैं। जावित्री में जायफल के सदृश उड़नशील तैल 4-15प्रतिशत, स्थिर तैल (26प्रतिशत), रालीय रंजक द्रव्य, पैक्टिन, एमाइलोडेक्सिट्रिन (25प्रतिशत) होते हैं। स्थिर तैल 'जातीफल-नवनीत' कहलाता है जिसमें ग्लिसराइड, राल तथा एक सुगन्धित तैल (6-13प्रतिशत) होता है। उड़नशील तैल में मिरिस्टिसीन और मिरिस्टिक अम्ल डी-पाइनीन, डी-कैम्फीन, जिरेनिआल, सैप्रोल, यूजिनॉल आदि पदार्थ होते हैं। पत्र और छाल में भी उड़नशील तैल थोड़ा होता है।

3.5.5 गुण

गुण — लघु, तीक्ष्ण **रस** — तिक्त, कटु

विपाक — कटु **वीर्य** — उष्ण

3.5.6 दोषकर्म — यह तीक्ष्ण-उच्च होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य— यह शोथहर, वेदनास्थापन, उत्तेजक, कुष्ठघ्न, दुर्गन्धनाशक एवं कीटनाशक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान — यह वेदनास्थापन, आक्षेपहर और वातशामक है। अतिमात्रा में यह मादक है। मस्तिष्क पर इसकी क्रिया कर्पूर के समान होती है।

पाचनसंस्थान — यह मुखदुर्गन्धनाशन, रोचन, दीपन, पाचन, यकृतत्तेजक, वातानुलोमन, ग्राही और कृमिघ्न है। पित्तसारक होने से पुरीष की दुर्गन्ध और कृष्णता को दूर करता है।

रक्तवहसंस्थान — यह उत्तेजक है।

श्वंसनसंस्थान — कफनिःसारक और कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान — यह वृष्य और आर्तवजनन है।

त्वचा — कुष्ठघ्न है।

तापक्रम — ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — कटुपौष्क है।

3.5.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — शिरःशूल सन्धिशोथ आदि में इसका लेप करते हैं। चर्मरोगों में इसका मलहम बनाकर लगाते हैं। शैत्य और अवसादयुक्त अवस्था में इसका तेल त्वचा पर रगड़ते हैं। ध्वजभंग में इसका तेल शिशुह्न पर लगाकर पान के पत्ते से बांधते हैं। दुर्गन्धयुक्त जीर्ण व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं। बच्चों के प्रतिश्याय में इसको सरसों के तेल में घिर कर सिर पर लगाते हैं। कीड़े मारने के लिये इसके तेल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — अनिद्रा, शूल, आक्षेप आदि वातिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान — मुखवैरस्य, अग्निमांद्र, अजीर्ण यकृद्विकार, विष्टम्भ, अतिसार, ग्रहणी तथा कृमि रोगों में यह प्रशस्त माना गया है। तृष्णा और वमन को रोकने के लिये भी देते हैं। विसूचिका में इससे श्रुतजल पीने को देते हैं। इससे अतिसार, तृष्णा, वमन, अवसाद सब में लाभ होता है। अतिसार में इसको घिसकर नाभि पर लेप करते हैं।

रक्तवहसंस्थान — हृद्रोग में उपयोगी है।

श्वंसनसंस्थान — पीनस, कास, श्वास और हिक्का में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान— यह कामोतेजना और स्तम्भन के लिये बाजीकरण योगों में दिया जाता है। रजोरोध कष्टात्तर्व में भी देते हैं।

त्वचा — चर्मरोगों में भी लाभकर है।

तापक्रम — ज्वर विशेषतः ज्वरातीसर में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण — अतिसार या ग्रहणी के बाद दौर्बल्य में इसका सेवन कराते हैं।

3.5.8 प्रयोज्य अंग — बीज (जायफल) और कोष (जावित्री)

3.5.9 मात्रा — चूर्ण आधा से एक ग्राम, तेल 1-3बूंद

3.5.10 विशिष्ट योग — जातिफलादि चूर्ण, जातिफलादि बटी;।

3.6 जावित्री

उपर जायफल का विस्तृत वर्णन दिया गया है, इसके फल गोलाकार या अंडाकार, डेढ़ से तीन इंच लम्बे, चिकने, छोटे नाशपाती या अमरूद के सदृश लटके हुए होते हैं। फलत्वचा पीली और मोटी होती है जो पकने पर दो भागों में फट जाती है। फलमज्जा के भीतर अंडाकार, कवचयुक्त, पिच्छिल, भूरे रंग का कठिन बीज होता है। बीज के ऊपर एक रक्ताभ पीले रंग का मासंल कवच होता है जो सूखने पर उससे पृथक हो जाता है। इसे 'जातिपत्री' कहते हैं। फल पकने पर स्वयं फट जाता है और जावित्री तथा बीज बाहर निकल आते हैं। जावित्री के समान गुणकर्म जायफल के समान ही है किन्तु यह विशेषतः रोचन, वर्ण्य, वेदनास्थापन है। ग्राही कम है।

3.7 केसर

गण — शोणितस्थापन (च०) एलादि (सु०)

कुल — केशल, कुल — इरिडेसी Iridaceae।

3.7.1 नाम — लै० क्राकस सेटाइवस (Crocus sativus)।

सं० कुडकुम, घुसुण, रक्त (रक्ताभ होने के कारण), कश्मीर में (कश्मीर में उत्पन्न होने से), हि०—केसर, म० गु० बं०— जाफरन, कुमकुम, ता०—कुडकुमाप्पु, ते०—कुडूकुम—पुब्बा, अं०—जाफरान, फा०—करमीकास, अं०—सैफ्रन (Saffron)।

3.7.2 स्वरूप — केशर का क्षुप छोटा, 6-10 इंच ऊँचा, बहुवर्षीय होता है। इसका मूल कोषावृत कन्दरूप में होता है। काण्ड नहीं होता है। मूलीय पत्र रेखाकार, नालीदार तथा मुड़े हुए किनारों वाले होते हैं और ये द्विकोष्ठीय पुष्पध्वज को लपेटे रहते हैं। पुष्प एकाकी या 2-3 एक साथ, बड़े, सुगन्धित तथा बैंगनी रंग के होते हैं। परिपुष्प फनेल के आकार का होता है और उसके कण्ठभाग पर बाल होते हैं। वही पुंकेसर होते हैं जिनमें परागाशय पीतवर्ण होता है। स्त्रीकेसर के कृक्षिवृन्त की भुजायें बाहर निकली हुई, नारंगी रंग की होती हैं जिनके अग्रभाग खण्डित या अखण्ड होते हैं। कुक्षि 3, प्रायः 1 इंच लम्बी, सूत्राकार, रक्तवर्ण होती है। कुक्षिभाग ही कुमकुम है। इस प्रकार एक पुष्प से तीन केशरतन्तु प्राप्त होते हैं फल आयताकार होता है। गर्भाशय त्रिकोष्ठ होता है जिसमें प्रायः गोलाकार बीज होते हैं।

केशर के कन्द लगाये जाते हैं। एक बार कन्द लगा देने पर 10-15 वर्षों तक पौधा रहता है। प्रतिवर्ष पुराने कन्द की जगह नया कन्द निकलता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। इसका पुष्प शरदकाल में पत्तियों के साथ निकलता है।

3.7.3 उत्पत्तिस्थान — केशर मूलतः दक्षिण यूरोप का निवासी है और स्पेन, फ्रांस, इटली, ग्रीस, तुर्की, फारस, भारत, चीन में इसकी खेती होती है। भारत में यह कश्मीर के पाम्पुर क्षेत्र में तथा जम्मू के किश्तवार क्षेत्र में होती है। भारत में इसका आयात मुख्यतः स्पेन और फ्रांस से होता है।

संग्रहविधि — केशर के पुष्पों को प्रतिदिन प्रातःकाल ओस हटने के बाद तोड़कर इकट्ठा करते हैं। कुक्षिभाग को पृथक कर धूप में या मन्द आंच पर चलनियों में रखकर सुखाते हैं। ताजे पुष्पों से एकत्रित तथा धूप में सुखाये कुक्षिभाग से बना केशर सर्वोत्तम होता है। सामान्यतः पूरे पुष्प का 3-5 दिनों तक धूप में सुखाने के बाद छड़ियों से हलके पीटते हैं। इससे सारा पदार्थ मोटी चलनियों से होकर नीचे गिरता है। इन छने भाग को पानी में डालते हैं। पुष्पदल जो पानी में तैरते हैं फेंक दिये जाते हैं और जो भाग नीचे बैठ जाता है। उसे इकट्ठा कर सुखा लेते हैं। यह नं० 1 या मोगरा केशर कहलाता है। अब चलनी के ऊपर जो भाग रह गया उसे फिर उसी तरह पीट कर सारी क्रिया को दोहराते हैं। इस प्रकार दो-तीन बार करके सारा केशर निकाल लेते हैं। किन्तु बाद के निकले केशर क्रमशः नं० 2 और 3 होते हैं।

3.7.4 रासायनिक संघटन — इसमें तीन रंगद्रव्य, एक उड़नशील तेल 1.37 प्रतिशत स्थिर तेल 13.4 प्रतिशत, क्रोसीन नामक एक ग्लुकोसाइड, नामक तिक्टसत्त्व, शर्करा होती है। भस्म में पोटेशियम और फास्फोरस होते हैं।

प्रशास्त्र लक्षण — भावप्रकाश ने तीन प्रकार का केशर बतलाया है। 1. काश्मीर देश में उत्पन्न केशर रक्ताभ, सूक्ष्म और कमल के समान गंध वाला होता है, यह उत्तम माना गया है। उत्तम केशर का वर्ण उदीयमान सूर्य के समान अरुण होता है। 2.

बाहरदेश में उत्पन्न केशर सूक्ष्म, पाण्डुवर्ण और केवड़े के समान गन्धयुक्त होता है। यह मध्यम माना जाता है। 3. पारसीक—पारसदेश में उत्पन्न केशर स्थूल, ईषत् पाण्डुवर्ण और मधु के समान गंध वाला होता है। यह निकृष्ट माना जाता है।

अपमिश्रण और परीक्षण — केशर में प्रायः पुष्प के कुक्षिवृत, परागकोष तथा अन्तर्दल का मिश्रण किया जाता है। गेंदा, कुसुम्भ आदि के पुष्पों का भी मिश्रण करते हैं। अन्य पदार्थों को भी रंग कर मिला देते हैं। वजन बढ़ाने के लिये जल, तेल या ग्लिसरीन मिला दिया जाता है।

ब्रिटिश फार्माकोपिया के अनुसार केशर में 8 प्रतिशत से अधिक कुक्षिवृत और परागकोष तथा 2 प्रतिशत से अधिक अन्य बाह्य कार्बनिक पदार्थ नहीं होने चाहिए।

- (1) शुद्ध केशर ईथर या पेट्रोलियम स्परिट में डालने पर बहुत कम रंग होना चाहिए।
- (2) इसका 0.21ग्राम 50 मि०लि० जल में डालने पर वही रंग होना चाहिए जो क्रौमिक एनहाईड्राइड 0.275ग्राम उतने ही पानी में डालने पर होता है।
- (3) केशर में आर्द्रता 9-14प्रतिशत, जलीय सत्व 50प्रतिशत, नेत्रजन 2.22-2.43प्रतिशत तथा भस्म 5-7 प्रतिशत होना चाहिए।

3.7.5 गुण

गुण — स्निग्ध **रस** — कटु, तिक्त **विपाक** — कटु **वीर्य** — उष्ण

3.7.6 कर्म

दोषकर्म — यह तिक्त होने से पित्त एवं उष्ण और कटु होने से वात और कफ का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह वर्ण्य, शोथहर, जन्तघ्न, सौमनस्यजनन एवं चक्षुष्य है।

आभयन्तर—नाडीसंस्थान — यह नाडीसंस्थान का उत्तेजक है तथा अधिक मात्रा में मादक है। मस्तिष्क को बल देते हैं तथा वेदनास्थापन भी है।

पाचनसंस्थान — यह दीपन, पाचन, रोचन, ग्राही, छर्दिनिग्रहण और यकृतुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृदय और रक्तप्रसादन है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान — बाजीकरण और गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा — यह स्वेदजनन, वर्ण्य और दौर्गन्ध्यहर है।

तापक्रम — ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — यह कटुपौष्टिक का भी कार्य करता है।

3.7.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह त्रिदोषजन्य विकारों में हितकर है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — यह व्यगय, न्यच्छ विकारों में केसर खिलाते हैं। अधकपारी में चीनी और घी मिलाकर खिलाते हैं। आमवात और नाडीशूल में भी देते हैं।

पाचनसंस्थान — अग्निमांद्य, अजीर्ण। अरूचि, अतिसार, वमन और यकृतिकारों में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान — हृदौर्बल्य एवं रक्तविकारों में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ्र में देनेसे मूत्र आसानी से आने लगता है।

प्रजननसंस्थान — ध्वजभंग, रजोरोध, कष्टार्तव एवं कष्टप्रसव में इसका सेवन कराते हैं। प्रसव के बाद भी गर्भाशय-शोधन के लिए केशर की गोली खिलाई जाती है।

त्वचा — वर्णविकारों एवं अन्य चर्मरोगों में केशर हितकर है। मसूरिका आदि में देने से दाने ठीक निकल जाते हैं।

तापक्रम — ज्वरों में भी प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण — दौर्बल्य में भी रसायन के रूप में इसका प्रयोग चिरकाल से होता आ रहा है। **3.7.8 प्रयोज्य अंग** — केशर (पुंकेसर)

3.7.9 मात्रा — आधे से एक ग्राम।

3.7.10 विशिष्ट योग — कुमकुमादि घृत, कुमकुमाद्य तैल।

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न 1— जायफल का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 2— केसर का प्रयोज्यांग क्या है?

प्रश्न 3— दालचीनी छाल की प्रयोग की जाने वाली सामान्य मात्रा बताइये।

प्रश्न 4— तेजपत्ता और दालचीनी एक ही द्रव्य हैं।

3.8 सारांश

इस इकाई में आपने ऐसे मसालों का अध्ययन किया जो भोजन को सुगन्धित तथा रूचिकर बनाते हैं। रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाते हैं और कई रोगों को हमसे दूर रखते हैं। इन मसालों का श्वास-कास व सामान्य खांसी जुकाम आदि में विशेष उपयोग है। इनका प्रयोग करके घर में ही सामान्य चिकित्सा की जा सकती है।

3.9 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अ०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फ०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशार०—रत्ती। आ०वि०—आयुर्वेदविज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश, भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता, सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला।

3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. Myristica fragrance 2. पुंकेसर 3. 1 – 3 ग्राम 4. ख. असत्य

3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcutta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

3.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. केसर के उत्पत्ति स्थान व खेती तथा केसर प्राप्त करने का तरीका बताइये।
2. दालचीनी के बारे में विस्तार से बताइये।

इकाई – 4— पालक मेथी धनिया बथुआ अदरक

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 पालक

4.3.1 नाम

4.3.2 उत्पत्तिस्थान

4.3.3 प्रयोग तथा गुण

4.4 मेथी

4.4.1 नाम

4.4.2 स्वरूप

4.4.3 उत्पत्तिस्थान

4.4.4 रासायनिक संघटन

4.4.5 प्रयोग तथा गुण

4.5 धनिया

4.5.1 नाम

4.5.2 स्वरूप

4.5.3 उत्पत्ति स्थान

4.5.4 प्रयोग तथा गुण

4.6 बथुवा

4.6.1 नाम

4.6.2 उत्पत्तिस्थान

4.6.3 प्रयोग तथा गुण

4.7 अदरक

4.7.1 नाम –

4.7.2 स्वरूप

4.7.3 उत्पत्ति स्थान

4.7.4 अदरक

और शुंठी

4.7.5 रासायनिक संघटन गुण

4.7.6 प्रयोग तथा गुण

4.8 सारांश

4.9 शब्दावली

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम पालक, मेथी, धनिया, बथुवा, अदरक का अध्ययन करेंगे। भारत के सभी प्रान्तों में इनका उपयोग भोजन में किया जाता है। स्वस्थ रहने के लिए जितना कार्बोहाइड्रेट व प्रोटीन आवश्यक हैं उतना ही विटामिन, लवण व खनिज भी जरूरी हैं। सब्जियों में रेशा, प्रोटीन, लवण व खनिज पाए जाते हैं। सब्जियों से भोजन संतुलित रहता है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप भोजन में उपयोग होने वाली सब्जियों के स्वरूप, इनकी खेती के तरीकों, इनमें पाए जाने वाले विशेष तत्वों आदि की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। आप यह भी जान सकेंगे कि कौन सी सब्जी किस मौसम में उपलब्ध रहती है। इनके औषधीय गुणों की जानकारी लेकर आप सामान्य रोगों में लाभ ले सकते हैं।

4.3 पालक

4.3.1 नाम— इसे हिन्दी में पालक, बंगाली में पालंग, पिन्सिस, मराठी और गुजराती, पंजाबी में पालक, कन्नड़ में स्पिनैचसोप्पू कहते हैं। *Chenopodiaceae* family के इस पौधे का वानस्पतिक नाम *Spinacia oleracea* है।

4.3.2 उत्पत्ति स्थान—यह दक्षिण एशिया का मूल पौधा है अब भारत में सभी क्षेत्रों में इसकी खेती की जाती है विशेष रूप से ठंडी जगहों में जहां सिंचाई के अच्छे साधन हों यह वर्ष भर उगाई जा सकती है। इसकी एक प्रजाति जिसे अंग्रेजी में Spinach Beet कहते हैं। जिसका वानस्पतिक नाम *Beta vulgaris* है। इसके बड़े हरे रंग के पत्ते होते हैं पूरे वर्ष इसकी खेती की जा सकती है। बोन के लगभग चालीस दिन में इसकी फसल तैयार हो जाती है। जैसे तो पालक की कई प्रजातियां पाई जाती हैं उत्तराखण्ड में इसकी दो प्रजातियां बहुतायत में होती हैं। गोल किनारेदार पत्ती वाली देशी पालक तथा कटे किनारेदार (*irregular margins*) पत्ती वाली पहाड़ी पालक। दोनों प्रकार की पालक गुणों में समान हैं, परन्तु स्वाद में थोड़ा फर्क होता है। पालक की पत्तियों की सब्जी पूरे भारत में खाई जाती है।

4.3.3 प्रयोग तथा गुण—पालक की पत्तियों को पकाकर या सलाद के रूप में खाया जाता है, इसकी पत्तियों में प्रचुर मात्रा में लवण, खनिज व प्रोटीन पाये जाते हैं। इसमें पाए जाने वाले लिपिड में जीवाणुरोधी गुण भी पाए गए हैं। इसके फल व बीज मूत्रल होते हैं ये ज्वर व उदरशोथ में लाभकर पाए गए हैं।

4.4 मेथी

4.4.1 नाम — लैटिन में इसे ट्राइगोनेला फीनमग्रीकम (*Trigonella foenum-graecum*.) कहते हैं। संस्कृत में मेथिका, मेथी, पीतबीजा, हिन्दी में मेथी, तेलुगु में मेंतीकुरा, मेन्तुलु, तामिल में वेन्चदम्, कन्नड़ में मेन्तिया, मलयाली में बेन्तियम् व अंग्रेजी में फेनग्रीक कहते हैं।

4.4.2 स्वरूप — इसका उग्रगन्धि किंचित रोमश क्षुप 1-2 फीट ऊँचा होता है। पत्र -पक्षवत्, त्रिपत्रक होते हैं। पत्रक - आयताकार अभिभालाकार, थोड़ा दन्तुर, गोलाग्र लम्बे होते हैं। पुष्प - श्वेत या पीताभ, अवृन्त 1 या दो एक साथ, नये पत्रों के अक्ष में लगते हैं। फली - पहले सीधी, बाद में हंसुआकृति से युक्त होती है। प्रत्येक फली में 10-20 पीताभ,

भूरे, आयताकार बीज होते हैं। जिसके एक कोने में गहरा खात होता है। फूल जनवरी-मार्च में लगते हैं। व्यवहार में एक छोटी और दूसरी बड़ी जाति होती है। छोटी का उपयोग साग-सब्जी में तथा बड़ी, जिसे पंजाब में 'मेथी' कहते हैं, का उपयोग पशुओं के लिये चारे के रूप में होता है।

निघण्टुओं में इसके ग्राम्य और वन्य भेद भी किये गए हैं। कृषि से प्राप्त ग्राम्य तथा स्वयं पैदा होने वाली वन्य मेथिका कहलाती है। वन्य मेथिका घोड़ों के लिए प्रशस्त बतलाई गयी है जिसे धन्वन्तरीनिघण्टु में अहित्थ भी कहा गया है। यह आयुर्वेद में 'अश्वबला' नाम से वर्णित है।

4.4.3 उत्पत्ति स्थान – मेथी पंजाब, कश्मीर में वन्य रूप में तथा भारत में प्रायः सर्वत्र उगाई जाती है। इसका मूलस्थान इथियोपिया कहा जाता है।

4.4.4 रासायनिक संघटन – बीजों में आर्द्रता 13.7, प्रोटीन 26.2, वसा 5.8, सूत्र 7.2, कार्बोहाइड्रेट 44.1, भस्म 3.0 प्रतिशत होते हैं। खनिजों में कैल्शियम फास्फोरस, लौह, सोडियम तथा पोटेशियम होते हैं। अनेक विटामिन भी होते हैं। बीजों में एक दुर्गन्धित एवं तिक्त स्थिर तेल तथा भूरे रंग का उग्रगन्धि उड़नशील तेल स्वल्प परिमाण होता है। पत्तियों में भी अनेक पोषक तत्व होते हैं।

4.4.5 प्रयोग तथा गुण– इसके पत्तों की सब्जी बनाकर खाई जाती है। इसके बीजों का उपयोग सब्जियों में मसाले के रूप में, छौंकने में करते हैं बीजों का उपयोग लड्डू बनाकर खाने में भी किया जाता है जो वातविकारों में लाभकर है। इसके बीज मधुमेह में भी लाभकर हैं। प्रसव के बाद स्तन्यवृद्धि के लिए महिलाओं को इसके लड्डू का सेवन कराना लाभकर रहता है।

4.5 धनिया

4.5.1 नाम – लैटिन कोरिएण्ड्रम सैटाइवम (Coriandrum sativum)।

इसे संस्कृत में धान्यक (क्षुद्र धान्य के सदृश बीज होने के कारण), छत्रा (छत्राकार पुष्प वाला), हिंदी में धनियां, बंगाली में धणे, गुजराती में धाणा, अंग्रेजी में कोरिएण्डर (Coriander) कहते हैं।

4.5.2 स्वरूप – इसका वर्षायु कोमल शाखा-प्रशाखायुक्त, गन्धयुक्त, 1-3 फीट ऊँचा होता है। पत्र- पक्षवत्, विभक्त होते हैं जिसमें नीचे के पत्रक लट्वाकार, खंडयुक्त तथा दन्तुर और ऊपर के पत्रक रेखाकार होते हैं। पुष्प-श्वेत या बैंगनी संयुक्त अन्त्य मुण्डकों में होते हैं। फल-गोलाकार, पीताभ, भूर, धारीदार होते हैं जो दबाने पर दो भागों में विभक्त हो जाते हैं जिसमें एक बीज होता है। बौने से पहले इसके बीज को रगड़कर दो भागों में विभक्त कर लेने से अंकुरण अच्छा होता है। शीतऋतु के अंत में फूल और फल लगते हैं।

4.5.3 उत्पत्ति स्थान – समस्त भारत में इसकी खेती होती है।

इसके फलों में आर्द्रता 11.2, प्रोटीन 14.1, वसा 16.1, कार्बोहाइड्रेट 21.6, सूत्र 32.6, खनिज पर्दाथ 4.4, कैल्शियम 0.63, फास्फोरस 0.37 प्रतिशत तथा लौह 17.9 मि०ग्राम होता है। इसकी गंध और स्वाद का कारण एक सुगन्धित तेल होता है जो इसमें 0.5 प्रतिशत होता है। इस तेल का मुख्य घटक कोरिएण्ड्रोल है। इसके अतिरिक्त 19-20 प्रतिशत तक एक स्थिर तेल भी होता है।

4.5.4 प्रयोग तथा गुण– धनिया की हरी पत्तियां सब्जियों के स्वाद को बढ़ा देती हैं, इसकी चटनी भी भारत में खूब खाई जाती है। हरी धनियां की पत्ती पीस कर शिरःशूल

तथा भल्लातक के कारण उत्पन्न शोथ में लेप करते हैं। पैत्तिक शोथ, विसर्प, गण्डमाला आदि पर भी इसका लेप करते हैं। मुखपाक या गले के रोगों में हरे धनिये के रस का गण्डूष धारण करते हैं। रक्तपित्त में विशेषतः नाक से रक्तस्राव होने पर इसका रस नाक में डालते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका रस या क्वाथ नेत्र में डालते हैं। शिरःशूल में सूखी धनियाँ का भी लेप करते हैं।

धनियाँ का छिलका उतार कर उसकी मज्जा से क्षीरपाक कर उस दुग्ध का सेवन भ्रम, मूर्च्छा, स्मृतिहास आदि रोगों में करते हैं। अरुचि, वमन, अग्निमांघ, अजीर्ण, प्रवाहिका, अतिसार, उदरशूल, अर्श एवं कृमिरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

यह मूत्रकृच्छ तथा पैत्तिक प्रमेह में दिया जाता है। ज्वरों में देने से ज्वर तथा उसके उपद्रव शांत होते हैं। शीतज्वर में विशेष लाभकर है। चीनी के साथ इसका हिम बना कर देने से दाह, तृष्णा आदि वातपैत्तिक रोगों में लाभकर होता है।

4.6 बथुवा

4.6.1 नाम— हिन्दी में इसे बथुवा, बांग्ला में चन्दन बेथु, तमिल में परकुकिराई, तेलुगु में पप्पुकुरा, और अंग्रेजी में पिगवीड (Pigweed) कहते हैं। इसका लैटिन नाम *Chenopodium album* है यह *Chenopodiaceae* family में परिगणित है।

4.6.2 उत्पत्ति स्थान — यह गेहूँ के खेतों में उसके साथ खुद ही उग आता है। इसकी अलग से खेती करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

4.6.3 नाम— प्रयोग तथा गुण— इसकी पत्तियाँ और कोमल शाखाएं सब्जी, रायते आदि के रूप में खाई जाती हैं। इसमें लौह प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। किंचित मात्रा में इसमें पारद भी पाया जाता है। यह कृमिहर है इसलिए पेट के कीड़ों को मारता है, रक्ताल्पता में इसका आभ्यन्तर प्रयोग बड़ा लाभकर है।

4.7 अदरक

4.7.1 नाम — लैटिन— जिंजिबर ऑफिसिनेल् (*Zingiber officinale*)

संस्कृत में इसे 'आर्द्रक' (गीला होने के कारण) शुण्ठी (शष्क होने से), नागर (श्रेष्ठ औषध तथा नगर में व्यापार होने के कारण), हिन्दी में अदरक व अदरख, सोंठ, मराठी में सुंठी, गुजराती में सूठ, बंगाली में आदा,सोंठ, अंग्रेजी में जिंजर कहते हैं।

4.7.2 स्वरूप यह कोमल, कन्दयुक्त बहुवर्षायु क्षुप है। इसका पत्रमय काण्ड 2-4 फुट ऊँचा होता है। पत्र लम्बे, चौड़े, तथा निचले तल पर चिकने होते हैं। पुष्पध्वज डेढ़ से तीन इंच लम्बा होता है। जिसमें 6-12 इंच लम्बे पुष्पदण्ड पर हरिताभ पीले पुष्प लगते हैं जिसका ओष्ठ भाग गहरे बैंगनी रंग का या कृष्णाभ होता है। पुंकेशर गहरे बैंगनी रंग के होते हैं। पुष्प वर्षाऋतु एवं शरद में आते हैं किन्तु कम ही दिखाई देते हैं।

कन्द सुगन्धित, स्थूल, खंडयुक्त, हल्के पीले रंग का होता है।

4.7.3 उत्पत्ति स्थान — उष्ण और आर्द्र प्रदेशों में विशेषतः केरल में इसकी खेती की जाती है। इसके अतिरिक्त बंगाल, उड़ीसा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश तथा हिमाचल व उत्तराखण्ड प्रदेश में इसकी खेती होती है।

4.7.4 अदरक और शुण्ठी — आर्द्र कन्द को अदरक तथा लेखित या अलेखित शुष्क कन्द को शुण्ठी कहते हैं। बांस के तीक्ष्ण टुकड़े से रगड़ कर अदरक की त्वचा हटा देते हैं उसके बाद पानी से धोकर 8-12 दिनों तक सुबह धूप में और उसके बाद छाया में सुखाते

हैं। टुकड़ों को सफेद और चिकना बनाने के लिये अदरक को एक दिन पानी में डुबाने के बाद गाढ़े चूने के पानी में रखते हैं। उसके बाद धूप में सुखाकर टाट के टुकड़ों से रगड़ देते हैं। इससे उन पर सफेदी और चमक आ जाती है।

भारतीय मानक के अनुसार इसके टुकड़े अनियमित आकार के, हलके भूरे रंग में सूत्रयुक्त, होते हैं जिनकी त्वचा पूरी हटाई नहीं गई हो। जिसकी गंध, स्वाद में कोई विकृति भी न हो। बाहरी पदार्थ इसमें 2 प्रतिशत से अधिक न हों।

4.7.5 रासायनिक संघटन – आर्द्रक में आर्द्रता 80.9, प्रोटीन 2.3, वसा 0.9, सूत्र 2.4, कार्बोहाइड्रेट 12.3, खनिज 1.2 प्रतिशत, कैल्शियम 20, फास्फोरस 60, लौह 2.6 मि०ग्रा० प्रति 100ग्राम। इसके अतिरिक्त कुछ आयोडिन और क्लोरीन होता है। विटामिन ए०बी०और सी०भी होते हैं।

शुण्ठी में आर्द्रता 10.9, प्रोटीन 15.4, सूत्रतन्तु 7.2, स्टार्च 5.3, कुल भस्म 6.6, उड़नशील तेल 1–2.7 प्रतिशत होता है।

उड़नशील तेल छिलकासहित सोंठ से प्राप्त किया जाता है, क्योंकि छिलके में तेलकोषाणु विशेष रूप से स्थित होते हैं। यह सुगन्धित तेल शुण्ठीतेल कहलाता है। किन्तु इसमें कटुता नहीं होती। इस तेल में जिंजिबरीन, जिंजिबराल आदि तत्व होते हैं।

4.7.6 प्रयोग तथा गुण – यह अरुचि, हृल्लास, छर्दि, अग्निमाद्य, अजीर्ण, कोष्ठगतवात, आघ्मान, उदरशूल तथा अर्श में उपयोगी है। अग्निमाद्य और अरुचि में भोजन के पहले अदरक और नमक खाने से अरुचि दूर होती है।

सामान्य दौर्बल्य विशेषकर प्रसव के बाद की कमजोरी में शुण्ठीपाक का प्रयोग करते हैं। इससे पेट ठीक होता है, वातविकार नष्ट होते हैं, शोथ दूर होता है तथा बल की वृद्धि होती है। आमवात की भी यह एक उत्तम औषध है। यह समस्त भारत में सब्जियों में प्रयोग किया जाता है। सर्दी जुकाम से बचने के लिए इसे चाय में पकाकर भी उपयोग में लिया जाता है। यह शरीर की प्रतिरोध क्षमता बढ़ाता है।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1— अदरक का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 2— मेथी मधुमेह में लाभकर है।

प्रश्न 3— रक्तपित्त (नकसीर) में निम्न में से किसकी पत्तियों का रस नाक में डालते हैं ?

प्रश्न 4— निम्न में से किसमें लौह तत्व (आयरन) सबसे अधिक पाया जाता है ?

4.8 सारांश

इस इकाई में आपने पालक, मेथी, धनिया, बथुवा, अदरक का अध्ययन किया। जहां एक ओर संतुलित भोजन में सब्जियां अपना महत्व रखती हैं वहीं अपने औषधीय गुणों के लिए भी महत्वपूर्ण हैं। आपने जाना कि पालक में जीवाणुरोधी गुण होते हैं, मेथी संधिगतवात व मधुमेह में लाभकर है। बथुवा में उदरकृमि को नष्ट करने की क्षमता है तो धनिया रक्तपित्त (नकसीर), ज्वर, दाह में लाभ करता है। अदरक आमपाचन करता है यह जोड़ों के दर्द, बवासीर आदि में लाभदायक है। आशा है इस इकाई में दी गई जानकारी से लाभ लेकर आप सामान्य रोगों में परामर्श भी दे सकते हैं।

4.9 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अं०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली,

ता०-तामिल, ते०-तेलुगु, क०-कन्नड़, पं०-पंजाबी, भू०-भूटानी, ने०-नेपाली, लै०-लैटिन,
ग्रा०-ग्राम, मि०ग्रा०-मिलिग्राम, मा०ग्रा०-माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०-मिलिलिटर,
लि०-लिटर, तो०-तोला, मा०-माशा, र०-रत्ती।

च०-चरकसंहिता, अ०सं०-अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०-अष्टांगहृदय, चक०-चक्रदत्त,
आ०वि०-आयुर्वेद विज्ञान, भा०प्र०-भावप्रकाश, भै०र०-भैषज्यरत्नावली, र०त०-रसतरंगिणी,
शा०सं०-शारंगधरसंहिता, सु०सं०-सुश्रुतसंहिता, हा०-हारीतसंहिता,
सि०भे०म०-सिद्धभेषजमणिमाला, यो०र०-योगरत्नाकर।

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. Zinziber officinale, 2. क- सत्य, 3. ग- धनिया 4. ख- पालक

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु,
सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टांगसंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3,
Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of
India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India(Raw Materials), C.S.I.R., New
Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi,
1956.

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. अदरक के पौधे का स्वरूप, सौंठ के गुण, रोगों में प्रयोग बताइये।
2. विभिन्न रोगों में धनिया का प्रयोग बताइये।

इकाई-5 प्याज लहसुन सरसों चौलाई नींबू

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 प्याज

5.3.1 नाम 5.3.2 स्वरूप 5.3.3 उत्पत्ति स्थान 5.3.4 रासायनिक संघटन
5.3.5 प्रयोग तथा गुण- 5.3.6 विशेष

5.4 लहसुन

5.4.1 नाम 5.4.2 स्वरूप 5.4.3 उत्पत्ति स्थान 5.4.4 रासायनिक संघटन
5.4.5 - प्रयोग तथा गुण-

5.5 सरसों

5.5.1 नाम 5.5.2 स्वरूप 5.5.3 उत्पत्ति स्थान 5.5.4 रासायनिक संघटन
5.5.5 - गुण तथा प्रयोग

5.6 चौलाई

5.6.1 नाम 5.6.2 उत्पत्ति स्थान 5.6.3 गुण तथा प्रयोग 5.6.4 नाम
-प्रजाति

5.7 नींबू /जम्बीर

5.7.1 नाम 5.7.2 स्वरूप - 5.7.3 जाति - 5.7.4 उत्पत्ति स्थान 5.7.5
रासायनिक संघटन
5.7.6 गुण तथा प्रयोग

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.12 निबन्धात्मक प्रश्न :-

5.1 प्रस्तावना :-

इस इकाई में हम प्याज, लहसुन, सरसों, चौलाई, नींबू का अध्ययन करेंगे। इनमें से प्याज, लहसुन, सरसों, चौलाई अल्पायु पौधे हैं, थोड़े समय में ही इनकी फसल तैयार हो जाती है। शाक-भाजी तथा सलाद में इनका उपयोग होता है। नींबू बहुवर्षायु पौधा है इसमें रसीले फल लगते हैं जिनके रस का उपयोग भोजन को रुचिकर बनाने के लिए किया जाता है। शर्बत, जूस आदि अन्य तरह से भी इसके फलों के रस का सेवन किया जाता है। इन सभी में खनिज, लवण, तन्तु प्रचुर मात्रा में होते हैं।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप प्याज, लहसुन, सरसों, चौलाई, नींबू की खेती, प्रयोग के तरीके, इनमें पाए जाने वाले तत्वों की जानकारी प्राप्त करेंगे। आप जानेंगे कि ये कैसे हमारे स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं। कैसे इनके उपयोग से सामान्य बीमारियों का उपचार भी किया जा सकता है।

5.3 प्याज

5.3.1 नाम – लैटिन- ऐलियम सेपा (Allium cepa)।

इसे संस्कृत में पलाण्डु, हिन्दी में प्याज, पंजाबी में गंडा, गु० डुंगली, डुगरी, कांदो, फारसी में प्याज तथा अंग्रेजी में बल्ब ओनियन (Bulb onion) कहते हैं।

5.3.2 स्वरूप – यह एक प्रसिद्ध आहारोपयोगी कन्द है। इसका द्विवर्षायु क्षुप 2-3 फीट ऊँचा होता है। पत्र लम्बे, मांसल, हरे-पीले तथा लम्बे होते हैं। पुष्पदण्ड हरे रंग का लम्बा होता है जिसके अग्रभाग में सवृन्तमूर्धज छोटे श्वेत पुष्प होते हैं। कभी-कभी इनके साथ कलिकाकन्द (Bulbil) भी दिखलाई पड़ते हैं। फल सामान्य स्फोटी, तीन कोष्ठ वाला होता है। जिसमें छोटे, काले बीज होते हैं। इसका कन्द रक्त और श्वेत दो प्रकार का होता है। बड़ा और श्वेत क्षीरपलांडु कहलाता है।

5.3.3 उत्पत्ति स्थान – यह समस्त भारत में होता है।

5.3.4 रासायनिक संघटन – पलाण्डुकन्द में प्रोटीन 1.2प्रतिशत, कार्बोहाइड्रेट 11.6प्रतिशत, कैल्शियम, लौह, विटामिन ए. बी 1 तथा सी होते हैं। कन्द और ताजे पौधे में एक कटु, दुर्गन्धित उड़नशील तेल होता है। स्थिर तेल में Allyl-propyl disulphide नामक तत्व होता है।

5.3.5 प्रयोग तथा गुण– इसके कन्द और बीजों का प्रयोग किया जाता है। इसे सब्जी बनाकर, छाँकने में या कच्चा सलाद के रूप में प्रयोग किया जाता है। वातरोगों में इसका अच्छा प्रभाव है। दृष्टि दोष में शहद के साथ अंजन के रूप में इसे प्रयोग करना हितकर रहता है। अग्निमांद्य, अर्श, गृधृसी, हृदौर्बल्य व कास में भी उपयोगी है।

5.3.6 विशेष – मेधा के लिए हानिकर है।

5.4 लहसुन

5.4.1 नाम – लैटिन- ऐलियम सेटाइवम्, (Allium sativum)

इसे संस्कृत में रसोन, हिन्दी में लहसुन, बंगला में रशुन, मराठी में लसूण, गुजराती में लसण, तथा अंग्रेजी में गार्लिक (Garlic)।

5.4.2 स्वरूप – इसका फल आवरण तथा कोषयुक्त होता है। पत्र चपटे, पतले, और लम्बे होते हैं। इसका पुष्पदण्ड तने के ठीक बीच से निकलता है जिसके सबसे ऊपरी भाग पर गुच्छेदार सफेद फूल लगता है। इसका क्षुप 1–2 फुट ऊँचा होता है। इसका तना कोमल होता है। एक किस्म गठिया लहसुन की होती है जिसके तने में बीच बीच में कलिकाकन्द (Bulbil) होते हैं। कन्द सफेद या रक्ताभ आवरण से ढका हुआ तथा 5–12 खण्डों में युक्त होता है।

5.4.3 उत्पत्ति स्थान – यह समस्त भारत में उत्पन्न होता है।

5.4.4 रासायनिक संघटन – इसमें उड़नशील तेल, 0.06–0.1 प्रतिशत होता है जिसमें Allyl-propyl sulphide 6 प्रतिशत Diallyl disulphide 6 प्रतिशत तथा दो और गन्धक के यौगिक होते हैं।

5.4.5 – प्रयोग तथा गुण–

इसका सब्जियों में छौंक के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसका अचार भी डाला जाता है। पक्षाघात, संधिवात, गृधृसी आदि में इसे दूध के साथ क्षीरपाक बनाकर खिलाते हैं व इसके कल्क का लेप वेदनाशमन के लिए करते हैं। इसको 4–5 कली रोज कच्चा खाने से शरीर में बढ़ी हुई वसा कम होती है। यह रसायन है इसलिए सामान्य दौर्बल्य तथा क्लैव्य व कष्टार्तव में प्रयोग होता है।

5.5 सरसों

5.5.1 नाम – लैटिन– ब्रासिका कैम्पेस्ट्रिस (Brassica campestris)

इसे संस्कृत में सर्षप, हिन्दी में सरसों, गुजराती में सरसव, बंगला में सरिषा, अंग्रेजी में मस्टर्ड (Mustard) कहा जाता है।

5.5.2 स्वरूप – इसका वर्षायु क्षुप 2–5 फीट ऊँचा होता है। पत्तियां लगभग 10 इंच तक लम्बी किनारों पर कटी होती है। ऊपर की पत्तियां 5 इंच तक लम्बी होती हैं। पुष्प–पीले होते हैं। फलियां 2 इंच लम्बी, चौथाई से आधा इंच तक चौड़ी होती है जिनमें पीले रंग के अनेक बीज होते हैं। फलियों का अग्रभाग चोंच की तरह चपटा होता है।

भावप्रकाश में इसकी दो जातियां कही गयी हैं 1. श्वेत या गौर सर्षप–इसे 'सिद्धार्थ' भी कहते हैं। लोकभाषा में इसी पीली 'सरसों' कहते हैं। 2. रक्तसर्षप–इसके बीज भूरे रंग के राई के दानों से कुछ बड़े होते हैं। औषधीय कर्मों में गौरसर्षप श्रेष्ठ माना गया है।

5.5.3 उत्पत्ति स्थान–यह प्रायः समस्त भारत में होता है। इसकी खेती विशेष रूप से बिहार, बंगाल, उ०प्र०, पंजाब में की जाती है यह अक्टूबर के प्रारंभ में बोई जाती है और फरवरी–मार्च में काटी जाती है।

5.5.4 रासायनिक संघटन – इसके बीजों में 35 से 45 प्रतिशत स्थिर तेल होता है जिसे 'कटुतेल' कहते हैं। इसके अतिरिक्त सिनाल्बिन नामक स्फटिकीय द्रव्य, सिनापिन, सल्फोसायनाइड, लेसिथिन, माइरोसिन, प्रोटीन और पोटेशियम, मैगनीशियम और कैल्सियम फास्फेट होते हैं।

5.5.5 – गुण तथा प्रयोग

उत्तर भारत में इसके ताजे पत्तों का साग खाया जाता है, बीजों के तेल से सब्जियों को छौंकने, पकवानों को तलने का काम लिया जाता है। विभिन्न आयुर्वेदिक औषधियों में भी तेल प्रयोग होता है। यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है। किसी अंग में पीड़ा होने पर इसके बीजों का लेप या तेल का अभ्यंग किया जाता है। बलवृद्धि के लिए भी इसके

तेल से दैनिक अभ्यंग का विधान है। जन्तुघ्न होने से व्रणों में लगाते हैं और दंत पूय (पायरिया) में गण्डूषधारण करते हैं या संधानमक मिलाकर दांत में लगाते हैं। शरीर के वर्ण एवं कांति को बढ़ाने के लिये इसके बीजों का प्रयोग उद्वर्तन (उबटन) में करते हैं। अग्निमांद्य एवं कृमिरोग में इसके बीजों का चूर्ण देते हैं। प्लीहावृद्धि में इसका तेल बहुत उत्तम माना गया है। काश्यपसंहिताकार ने प्लीहावृद्धि में इसे सर्वश्रेष्ठ औषध बतलाया है।

5.6 चौलाई

5.6.1 नाम – इसे संस्कृत में बाष्पक, मरिशाः, हिन्दी में चौलाई, बंगला में सदन्त्या, मराठी में भाजी, गुजराती में दम्भो, तेलुगू में तोताकुरा व तमिल में तन्दुकिराई तथा अंग्रेजी में एमेरेन्थ (Amaranth) कहते हैं। इसका लैटिन नाम एमेरेन्थस ब्लाइटम (*Amaranthus blitum*) है। यह पौधा *Amaranthaceae* family का सदस्य है।

5.6.2 उत्पत्ति स्थान – यह पूरे भारत वर्ष में पाया जाता है।

5.6.3 गुण तथा प्रयोग – इसकी पत्तियां और कोमल शाखाएं सब्जी के रूप में प्रयोग की जाती हैं। इनमें बड़ी मात्रा में लौह और खनिज पाए जाते हैं। इसके बीज छोटे, काले और सफेद रंग के होते हैं जिनमें लौह (iron) प्रचुर मात्रा में (18–19 मिलिग्राम/ 100ग्राम) पाया जाता है। इन्हें भूनकर खाया जाता है इनसे लड्डू व खीर बनाई जाती है।

5.6.4 नाम – प्रजाति – भारत में इसकी एक अन्य प्रजाति पाई जाती है जिसे बड़ी चौलाई के रूप में जाना जाता है। इसका लैटिन नाम *Amaranthus tricolor* है इसकी पत्तियों के उदगम स्थल पर कांटे नहीं पाये जाते हैं जबकि दूसरी किस्म जो छोटी चौलाई कहलाती है, की पत्तियों में कांटे पाये जाते हैं। दोनों प्रजातियों का प्रयोग और गुणधर्म समान हैं।

5.7 नींबू / जम्बीर

5.7.1 नाम – लैटिन – साइट्रस लाइमोन (*Citrus limon*)

संस्कृत में इसे जम्बीर, हिन्दी में जम्बीरी, नींबू व अंग्रेजी में दी लेमन ऑफ इण्डिया (*The lemon of India*) कहते हैं।

5.7.2 स्वरूप – इसका झाड़ीदार वृक्ष 10–12 फीट ऊँचा होता है। शाखायें कांटों से युक्त होती हैं। पत्र– अंडाकार तथा पत्रवृन्त अपक्ष या स्वपक्षयुक्त होते हैं। फल– लंबगोल या अंडाकार होता है। यह पकने पर चमकीले पीले रंग का होता है। फल का छिलका मोटा तथा फलमज्जा हलके पीले रंग की अम्लीय होती है।

5.7.3 जाति – देशभेद तथा आकृति के अनुसार इसकी अनेक जातियां होती हैं। पंजाब में सुलभ गलगल तथा जंबीरी इसके प्रचलित प्रकार हैं। कुछ विदेशी जातियां भी आई हैं यथा इटालियन, नेपाली, मालटा, लिसबन, युरेका आदि। आयुर्वेदीय ग्रंथों में बड़े फल को जंबीर और छोटे का जंबीरिका कहा है। कागजी नींबू का हमारे भोजन और सलाद में बहुत प्रयोग होता है। कृषि वैज्ञानिकों द्वारा देश में कागजी नींबू की बहुत सी किस्में तैयार की गई हैं।

5.7.4 उत्पत्ति स्थान – यह भारत में सर्वत्र होता है। वन्य रूप में यह भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में 4 हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

5.7.5 रासायनिक संघटन – नींबू के रस में निम्बुकाम्ल अधिक होता है। 100 मि०लि० नींबू के रस में लगभग 3.7 प्रतिशत अम्ल प्राप्त होता है। इसके फल की त्वचा से एक हलके पीले रंग का उड़नशील तेल निकलता है।

5.7.6 गुण तथा प्रयोग

भारतीय भोजन में नींबू का काफी प्रयोग होता है, इसे सलाद में, चटनी में तथा अचार के रूप में खूब खाया जाता है। नींबू की शिकंजी भी भारत में बहुत प्रचलित है। यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। फल, त्वक्, पत्र सभी प्रयोग होते हैं।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1- प्याज का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 2- लहसुन के प्रयोग से वसा कम होती है।

प्रश्न 3- सरसों का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 4- निम्न में से किसमें सबसे अधिक लौह तत्व पाया जाता है ?

प्रश्न 5- प्याज मेधावर्द्धक है।

5.8 सारांश

इस इकाई में आपने प्याज, लहसुन, सरसों, चौलाई, नींबू का अध्ययन किया। आपने जाना कि इनमें तन्तु, लवण, खनिज प्रचुर मात्रा में होने से इनकी हमारे भोजन में कितनी जरूरत है। आपने इनकी फूड वैल्यू के अलावा यह भी जाना कि कई बीमारियों में भी यह लाभकर हैं। प्याज नेत्र दोषों, अर्श, कास में लाभकर है। लहसुन पक्षाघात, संधिवात, सियाटिका में लाभकर है, सरसों के तेल की मालिश शरीर को पुष्ट करती है तो यह प्लीहावृद्धि में भी लाभकर है। चौलाई के पत्तों का साग खाया जाता है तो खीर व लड्डू के रूप में बीज प्रयोग में आते हैं। नींबू से विटामिन सी की पूर्ति होती है। आपने यह भी जाना कि लहसुन को दूध के साथ पकाकर क्षीरपाक विधि से प्रयोग कैसे लाभ देता है। संभवतः दूध के साथ पकाने से इसके तीक्ष्ण प्रभाव में कमी आ जाती है। इसकी चार-पांच कच्ची कलियां रोज खाने से वसामेह दूर होकर हृदयरोगों से बचा जा सकता है। आपने जाना कि प्याज का ज्यादा सेवन मेधा के लिए हानिकर है। आशा है इस इकाई को पढ़ने के बाद आप सामान्य शाकों से भी कुछ रोगों में परामर्श देने में सक्षम होंगे।

5.9 शब्दावली

हि०- हिन्दी, अ०-अंग्रेजी, अ०-अरबी, आ०-आसामी, उ०-उड़िया, क०-कश्मीरी, फा०-फारसी, सं०-संस्कृत, गु०-गुजराती, बं०-बांग्ला, म०-मराठी, मल०-मलयाली, ता०-तामिल, ते०-तेलुगु, क०-कन्नड़, पं०-पंजाबी, भू०-भूटानी, ने०-नेपाली, लै०-लैटिन, ग्रा०-ग्राम, मि०ग्रा०-मिलिग्राम, मा०ग्रा०-माइकोग्राम, मि०लि०/मिलि०-मिलिलिटर, लि०-लिटर, तो०-तोला, मा०-माशा, र०-रत्ती। च०-चरकसंहिता, अ०सं०-अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०-अष्टांगहृदय, चक०-चक्रदत्त, आ०वि०-आयुर्वेद विज्ञान, भा०प्र०-भावप्रकाश, भै०र०-भैषज्यरत्नावली, र०त०-रसतरंगिणी, शा०सं०-शारंगधरसंहिता, सु०सं०-सुश्रुतसंहिता, हा०-हारीतसंहिता, सि०भे०म०-सिद्धभेषजमणिमाला, यो०र०-योगरत्नाकर।

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :-

1. Allium cepa, 2. क- सत्य, 3. Brassica campestris 4. घ- चौलाई
2. ख- असत्य

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

5.12 निबंधात्मक प्रश्न :-

1. लहसुन के औषधीय गुण व प्रयोग का तरीका बताइये।
2. सरसों के बारे में आप क्या जानते हैं ? विस्तार से बताइये।

इकाई – 6 मूली गाजर शलजम जिमीकन्द खीरा टमाटर

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 मूली

6.3.1 नाम 6.3.2 मूल उत्पत्ति 6.3.3 स्वरूप 6.3.4 उत्पत्ति स्थान 6.3.5 गुण तथा प्रयोग

6.4 गाजर

6.4.1 नाम 6.4.2 स्वरूप 6.4.3 उत्पत्ति स्थान 6.4.4 गुण तथा प्रयोग

6.5 शलजम

6.5.1 नाम 6.5.2 स्वरूप तथा उत्पत्ति स्थान 6.5.3 रासायनिक संघटन 6.5.4 गुण तथा प्रयोग

6.6 जिमीकंद

6.6.1 नाम 6.6.2 स्वरूप 6.6.3 प्रकार 6.6.4 उत्पत्ति स्थान 6.6.5 रासायनिक संघटन 6.6.6 प्रयोग

6.6.7 प्रयोग-निषेध 6.6.8 प्रयोगविधि

6.7 खीरा

6.7.1 नाम 6.7.2 स्वरूप 6.7.3 उत्पत्ति स्थान 6.7.4 रासायनिक संघटन 6.7.5 गुण तथा प्रयोग

6.8 टमाटर

6.8.1 नाम 6.8.2 उत्पत्ति स्थान 6.8.3 रासायनिक संघटन 6.8.4 गुण तथा प्रयोग

6.9 सारांश

6.10 शब्दावली

6.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

6.13 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम मूली, गाजर, शलजम, जिमिकंद, खीरा, टमाटर का अध्ययन करेंगे। आप सभी इन सभी सब्जियों से परिचित होंगे, भारतीय भोजन में इनका सलाद व तरकारी के रूप में बहुत उपयोग होता है। इनमें कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, रेशा, खनिज, लवण, विटामिन भरपूर मात्रा में पाए जाते हैं। सब्जियां हमारे पाचन तंत्र को सुचारु बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम मूली, गाजर, शलजम, जिमिकंद, खीरा, टमाटर के स्वरूप, इनमें पाए जाने वाले तत्वों तथा इनकी खेती के बारे में जानेंगे। हम जान सकेंगे कि क्या किसी सब्जी का उपयोग करके हम किसी बीमारी को कम कर सकते हैं।

6.3 मूली

6.3.1 नाम— इसे हिन्दी में मूली, संस्कृत में मूलक, बंगला, गुजराती, मराठी में मूली, मूरा, मूला कहते हैं। तमिल, तेलुगु, मलयाली में इसे मुलंगी कहते हैं। इसका अंग्रेजी नाम रैडिश (Radish) Family Cruciferae वानस्पतिक नाम *Raphanus Sativus* है।

6.3.2 मूल उत्पत्ति — कुछ वैज्ञानिकों के मतानुसार मूली एक यूरोपीय जंगली पादप *R. raphanistrum* से विकसित हुई है, परन्तु इस प्रजाति का पौधा एशिया में कहीं नहीं पाया जाता इसलिए भारतीय प्रजाति की मूली का विकास इससे नहीं हुआ होगा। ऐसा माना जाता है कि मूली की भारतीय प्रजाति चीनी मूल के पौधे से विकसित हुई होगी जो अब विलुप्त हो गया है।

6.3.3 स्वरूप— यह एक एकवर्षीय या द्विवर्षीय पौधा है जिसकी जड़ ऊपर मोटी व नीचे की ओर पतली होती है। अन्य आकृतियों वाली प्रजातियां उगाई जाती हैं जैसे उत्तराखण्ड में गोल मूली होती है जिसका रंग सफेद व लाल होता है जो स्वाद में तीक्ष्ण होती है। इसकी जड़ों को पूरे देश में बड़े चाव से खाया जाता है।

6.3.4 उत्पत्ति स्थान— इसकी कई आकृति की जड़ों वाली अलग अलग प्रजातियां हैं जो पंजाब, उत्तराखण्ड, मध्यप्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र में बहुतायत में उगाया जाता है। भारत में कृषि संस्थानों द्वारा कई प्रजातियां तैयार की गई हैं जो अधिक उत्पादन देती हैं जैसे पूसा चेतकी, पूसारश्मि, पूसा हिमानी, रैड व्हाइट टिप्ड, जापानी व्हाइट आडि।

6.3.5 गुण तथा प्रयोग — इस पौधे की कोमल पत्तियां, जड़ व फल (सिंगुर फली) कच्चे व पकाकर खाए जाते हैं। मूल का उपयोग मूत्र विकारों में मूत्रल औषधि की तरह किया जाता है। यह अर्शहर (बवासीर में काम आने वाला) भी है। पत्तियों का रस मूत्रविकार तथा कब्ज में काम आता है। मूली यकृत के लिए भी हितकर है इसलिए पीलिया रोग में इसका सेवन उपयोगी है। बीज श्लेष्महर होने से कास में भी काम आते हैं। मूली के पत्ते जानवरों के चारे के रूप में भी प्रयोग में लाए जाते हैं। बीजों के तेल से साबुन भी बनाया जाता है।

6.4 गाजर

6.4.1 नाम— इसे हिन्दी, बंगाली, गुजराती में गाजर, संस्कृत में शिखा मूल, मराठी में गज्जारा, तेलुगु में गज्जरागेडा, पितकान्डा, तमिल में गजाराविकलंगु और कन्नड़ में गज्जरी कहते हैं।

यह अम्बेलिफेरी कुल (Umbelliferae family) का पौधा है जिसका वानस्पतिक नाम *Daucus carota* है।

6.4.2 स्वरूप— यह एक एकवर्षीय पौधा है इसमें लम्बी संयुक्त पत्तियां होती हैं जिनका विन्यास विशेष प्रकार का होता है। इसकी मूल लाल या नारंगी-लाल होती है जो उपयोग में आती है। यह आकृति और आकार के आधार पर विभिन्न प्रकार की होती हैं। भारत के पूसा कृषि संस्थान ने गाजर की कई प्रजातियां विकसित की हैं। गाजर की जड़ की बाहरी पर्त लाल या नारंगी-लाल रंग की होती है जबकि भीतरी भाग पीला- सफेद होता है।

6.4.3 उत्पत्ति स्थान— भारत में पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, गुजरात आदि में गाजर की बड़े पैमाने पर खेती की जाती है।

6.4.4 गुण तथा प्रयोग — गाजर की जड़ में हमारे स्वास्थ्य के लिए लाभदायक कैरोटीन पाया जाता है जो नेत्रज्योति के लिए बहुत लाभकर है।

इसे सलाद के रूप में कच्चा, अचार बनाकर तथा सब्जी के रूप में पकाकर खाया जाता है। इससे बना हलवा और मिठाइयां उत्तर भारत में चाव से खाये जाने वाले व्यंजन हैं।

गाजर के बीज उदररोगों में तथा मूत्र व वृक्क के विकारों में प्रयोग में लाए जाते हैं।

6.5 शलजम

6.5.1 नाम — इसे हिन्दी में शलजम, अंग्रेजी में टर्निप (Turnip) , बंगला में शलगम, मराठी व उड़िया में सलगम, मलयाली में सीमामुलंगी, पंजाबी में गांगलू व शलगम बोलते हैं।

इसका लैटिन नाम ब्रैसिका रप्पा (*Brassica rapa*) है। यह कुसिफेरी कुल (*Cruciferae* family) में आती है।

6.5.2 स्वरूप तथा उत्पत्ति स्थान— यह एक एकवर्षीय या द्विवर्षीय पादप है जिसे मुख्यतः पंजाब व उत्तर प्रदेश में उगाया जाता है वैसे यह भारत के दूसरे प्रदेशों में भी उगाया जाता है।

6.5.3 रासायनिक संघटन — इसकी पत्तियों में कैल्सियम और विटामिन सी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

6.5.4 गुण तथा प्रयोग —इसकी मूल का प्रयोग सब्जी के रूप में किया जाता है। इसे कच्चा या पकाकर खाया जाता है इसे सलाद के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। इसकी पत्तियां सब्जी बनाने व पशुओं के लिए चारे के रूप में प्रयोग की जाती हैं। शलजम का उपयोग सूप बनाने में भी किया जाता है। इसकी पत्तियां अच्छी पाचक होती हैं। शलजम अच्छा मूत्रल है इसे मूत्र विकारों में प्रयोग करते हैं, प्रसव के बाद यदि अधिक रक्तस्राव हो तो इसका प्रयोग किया जाता है। अर्बुद (Tumors) में भी इसे लाभकारी पाया गया है। इसके बीजों का तेल डेंगू ज्वर में लाभकारी पाया गया है। इसके तेल को जीर्ण कास (Bronchitis) में छाती पर मलने से लाभ होता है। इसके तेल में कपूर मिलाकर मालिश करने से आमवात (Rheumatoid Arthritis) व गर्दन के दर्द में आराम मिलता है। इसका तेल साबुन बनाने के काम भी आता है।

6.6 जिमीकंद

6.6.1 नाम —लैटिन—एमार्फोफैलस कैम्पेन्युलेटस(Amorphophallus campanulatus) .

इसे संस्कृत में सूरण, अर्शोघ्न, कन्दनायक, हिन्दी में सूरन, ओल, जिमीकन्द, बंगला में ओल, मराठी व गुजराती में सूरण कहते हैं।

6.6.2 स्वरूप —इसका दृढ़ क्षुप 1—3 फीट ऊँचा होता है। पत्र एक, कभी—कभी तो 1—3 फुट चौड़ा, तीन में विभक्त, अनियताकार खण्डों या पत्रकों से युक्त होता है। पत्रवृन्त — 1—3 फुट लंबा, गहरे हरे रंग का, हलके हरे धब्बों तथा छोटी ग्रन्थियों से युक्त होता है। पत्रकोष — घंटिकाकार नलिका से युक्त, ऊपर की ओर अचानक चौड़ा, हरा बैंगनी रंग का, प्रायः नीचे की ओर सफेद धब्बों से युक्त होता है। पुष्पदण्ड पत्रकोश से छोटा, फल में 5—6 इंच निकला होता है। पुष्पध्वज अतिदृढ़ होता है। स्त्रीपुष्पव्यूह 3 इंच लम्बा बैंगनी रंग की कुक्षियों से युक्त पुंपुष्पव्यूह—हलके पीले परागाशयों से युक्त होता है। फल— 3—4 इंच लम्बे दण्ड पर लाल रंग के होते हैं जिसमें 2—3 बीज होते हैं। अप्रैल—जून में पुष्प और नवम्बर में फल आते हैं। कन्द— ऊपर के भाग में दबा हुआ, 6—10 इंच व्यासवाला, भूरे रंग का, अर्द्धगोलाकार होता है।

6.6.3 प्रकार —सूरण के अनेक ग्राम्य और वन्य प्रकार होते हैं। ग्राम्य सूरण लगाया होता है और वन्य सूरण वन में स्वयं होता है। इसकी अनेक प्रजातियां भी होती हैं।

6.6.4 उत्पत्ति स्थान —यह भारत तथा श्रीलंका में होता है।

6.6.5 रासायनिक संघटन —कन्द में कैल्शियम ऑक्जलेट होने के कारण कण्डू, दाह आदि उत्पन्न करता है। वन्य प्रजाति में यह अधिक होता है। कन्द में आर्द्रता 78.7, प्रोटीन 1.2, वसा 0.1, कार्बोहाइड्रेट 18.4, खनिज द्रव्य 0.8, कैल्शियम 0.05, फास्फोरस 0.02 प्रतिशत लौह 0.4 मि० ग्रा० विटामिन ए 434 यूनिट, विटामिन बी 120 यूनिट। प्रति 100ग्राम होता है।

6.6.6 —प्रयोग जिमीकन्द अर्श, गुल्म, अग्निमांघ, अरुचि, उदरशूल, कृमि आदि रोगों में लाभकर है।

6.6.7 प्रयोग—निषेध — रक्तपित्त के रोगियों को इसका सेवन नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि तीक्ष्ण और उष्ण होने से यह रक्तपित्तकोपक है। वन्य सूरण का प्रयोग करने से मुखपाक, कंठदाह, कण्डू आदि उपद्रव होते हैं।

इन उपद्रवों के निवारण के लिए नींबू, इमली आदि अम्ल पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

6.6.8 प्रयोगविधि — सूरण को गीली मिट्टी की मोटी तह में लपेट कर आग में रख देते हैं। जब मिट्टी लाल हो जाय तब ठंडा होने पर मिट्टी धोकर अलग कर देते हैं। फिर धूप में खूब सुखाकर चूर्ण कर लेते हैं। अथवा शाक में प्रयोग करते हैं। पुटपक्व ओल को यदि कांजी आदि में कुछ काल तक संघान करने के बाद प्रयोग किया जाय तो उसका गुण बढ़ जाता है।

6.7 खीरा

6.7.1 नाम — लैटिन कुरकुमिस सेटाइवस (curcumis Sativus)

इसे संस्कृत में त्रपुष, हिन्दी में खीरा, बंगला में षषा, मराठी में तवसे, खिरा, गुजराती में तांसली, फारसी में खियार, अंग्रेजी में कुकुम्बर (cucumber) कहते हैं।

6.7.2 स्वरूप—यह वर्षायु रोमश लता होती है। पत्रदंड 2–3 इंच लम्बा होता है जिस पर गोल पंचकोणविशिष्ट, 3–6 इंच व्यास के पत्र लगते हैं। पुष्प पीले, एकलिंगी होते हैं। फल हरिताभ श्वेत य हरिताभ पीत,, मुख पर कृष्णाभ, रोमश, कंटकित 4–12 इंच लम्बे, एक से डेढ़ इंच मोटे होते हैं। बीज अनेक, लम्बे-चपटे, दोनों सिरों पर नुकीले, सिन्ध और श्वेतवर्ण होते हैं।

कालभेद से इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है – ग्रीष्मजात, वर्षाजात। पहले में फल छोटे और दूसरे में बड़े होते हैं।

6.7.3 उत्पत्ति स्थान—यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है। विशेषतः उष्ण बालुकामय प्रदेशों में होता है।

6.7.4 रासायनिक संघटन— इसके बीजों में प्रोटीन 42, स्नेह 42.5 प्रतिशत होता है। राख में फास्फेट प्रचुर होता है। बीजमज्जा से एक स्वच्छ हलके पीले रंग का तेल निकलता है। फल में निम्नांकित घटक होते हैं – आद्रत 96.4, प्रोटीन 0.4, वसा 0.1, कार्बोहाइड्रेट 2.8, खनिज 0.3, कैल्शियम 0.01, फास्फोरस 0.03 प्रतिशत। लौह 1.5 मि0ग्रा0 प्रति 100 ग्रा0, विटामिन बी0, सी तथा कुछ प्रोटीन विप्लेशक किण्वतत्व भी होते हैं।

6.7.5 गुण तथा प्रयोग

यह सलाद , रायता आदि के रूप में भारतीय भोजन में प्रयोग में लाया जाता है। यह पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है। दाह, अनिद्रा और शिरःशूल में इसके बीजों का तेल लगाते हैं।

मूत्रकृच्छ में उपयोगी है। दाह के शमन के लिये इसके बीज गर्मियों में टंडाई में दिये जाते हैं।

6.8 टमाटर

6.8.1 नाम— इसे हिन्दी में टमाटर, बंगला में टमाटर, विलायती बैंगन, मराठी में वेलबांगी, गुजराती में विलायती वैंगन, तमिल में तक्काली तथा अंग्रजी में टमैटो (Tomato) कहते हैं। इसका लैटिन नाम *Lycopersicon esculentum* तथा कुल *Solanaceae* है। भारत में कृषि संस्थानों द्वारा इसकी बहुत सी प्रजातियां विकसित की गई हैं।

6.8.2 उत्पत्ति स्थान— यह मूल रूप से पेरू व इक्वाडोर का पौधा है वहां से इसे मैक्सिको लाया गया, जहां इसे पहली बार खेतों में उगाया गया, इससे पूर्व यह जंगली रूप से स्वयं उगता था। मैक्सिको से यह पौधा यात्रियों के साथ दक्षिण यूरोप पहुंचा यहां इसे लोगों ने खाना प्रारम्भ किया और काफी समय बाद यहां से यह उत्तरी यूरोप और अमेरिकी प्रांतों में पहुंचा। लगभग सौ साल से यह भारत में उगाया जा रहा है। अब तो भारत में इसकी व्यापक स्तर पर खेती हो रही है और यह यहां बड़ी मात्रा में सब्जियों में प्रयोग किया जा रहा है।

6.8.3 रासायनिक संघटन— टमाटर में लौह तथा खनिज तत्व तथा विटामिन बी व सी पाए जाते हैं। इसमें कैल्शियम भी काफी मात्रा में पाया जाता है। इसमें पाया जाने वाला लाइकोपीन एक अच्छा एन्टिऑक्सिडेंट है। इसमें विटामिन ए व सी पाया जाता है।

6.8.4 गुण तथा प्रयोग— इसके ताजे पके फल सलाद के रूप में कच्चे खाए जाते हैं। कच्चे व पके फल सब्जी के साथ पकाकर खाए जाते हैं। इसका सूप, सॉस खासा लोकप्रिय है, इसे प्यूरी और सूखे पावडर के रूप में संरक्षित करके भी खाने के प्रयोग में लाया जाता है।

इसमें पाया जाने वाला लाइकोपीन पौरुषग्रंथि (Prostate gland) के कैंसर में लाभकारी पाया गया है। वैज्ञानिक अनुसंधान बताते हैं कि टमाटर त्वचा को पराबैंगनी किरणों से बचाता है तथा त्वचा की चमक बरकरार रखने में भी सहायक है। यह कृमिघ्न भी है।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1- टमाटर का सेवन प्रोस्टेट ग्रंथि के विकार में लाभकर है।

प्रश्न 2- रतौंधी के लिए निम्न में से सबसे उपयोगी है।

प्रश्न 3- जिमिकंद रक्तपित्त के रोगियों के लिए हानिकर है।

प्रश्न 4- गाजर की जड़ में पाया जाने वाला नेत्रज्योति के लिए लाभदायक तत्व है।

6.9 सारांश

इस इकाई में आपने जाना कि मूली, गाजर, शलजम, जिमिकंद, खीरा, टमाटर में क्या क्या तत्व पाए जाते हैं। ये सभी सब्जियां फाइबर की अधिकता के कारण भोजन का आवश्यक अंग हैं। इनसे आंतों की गतिशीलता बनी रहती है। ये विबन्ध को दूर करके शरीर को निरोग रखने में सहायक हैं। आपने विभिन्न सब्जियों के गुणों को जाना यह जाना कि कैसे ये रोगों को दूर रखने में सहायक हो सकती हैं, और इनकी कितनी मात्रा सुरक्षित है, इनकी प्रयोगविधि क्या है। जैसे शलजम के बीजों का तेल डेंगू में लाभकर पाया गया है तो जिमिकंद को रक्तपित्त के रोगी को देना नुकसान कर सकता है। आपने जाना कि टमाटर जैसी साधारण सब्जियों के प्रयोग से प्रोस्टेट ग्रंथि के कैंसर तक को दूर रखा जा सकता है।

6.10 शब्दावली :-

हि०- हिन्दी, अ०-अंग्रेजी, अ०-अरबी, आ०-आसामी, उ०-उड़िया, क०-कश्मीरी, फा०-फारसी, सं०-संस्कृत, गु०-गुजराती, बं०-बांग्ला, म०-मराठी, मल०-मलयाली, ता०-तामिल, ते०-तेलुगु, क०-कन्नड़, पं०-पंजाबी, भू०-भूटानी, ने०-नेपाली, लै०-लैटिन, ग्रा०-ग्राम, मि०ग्रा०-मिलिग्राम, मा०ग्रा०-माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०-मिलिलिटर, लि०-लिटर, तो०-तोला, मा०-माशा, र०-रत्ती। च०-चरकसंहिता, अ०सं०-अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०-अष्टांगहृदय, चक्र०-चक्रदत्त, आ०वि०-आयुर्वेद विज्ञान, भा०प्र०-भावप्रकाश, भै०र०-भैषज्यरत्नावली, र०त०-रसतरंगिणी, शा०सं०-शारंगधरसंहिता, सु०सं०-सुश्रुतसंहिता, हा०-हारीतसंहिता, सि०भे०म०-सिद्धभेषजमणिमाला, यो०र०-योगरत्नाकर।

6.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क- सत्य, 2. ख- गाजर, 3. क- सत्य, 4. क- कैरोटीन

6.12 सन्दर्भ ग्रन्थ :-

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टांगसंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India(Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

6.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. जिमिकंद के प्रयोग की विधि बताइये।
2. खीरा व टमाटर का रोगों में प्रयोग बताइये।

इकाई—7— तुलसी, घृतकुमारी, ब्राह्मी, गिलोय

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 तुलसी

7.3.1 नाम 7.3.2 स्वरूप 7.3.3 उत्पत्तिस्थान 7.3.4 रासायनिक संघटन 7.3.5 गुण 7.3.6 कर्म 7.3.7 प्रयोग 7.3.8 प्रयोज्य अंग 7.3.9 मात्रा

7.4 घृतकुमारी

7.4.1 नाम 7.4.2 स्वरूप 7.4.3 उत्पत्तिस्थान 7.4.4 रासायनिक संघटन 7.4.5 गुण 7.4.6 कर्म 7.4.7 प्रयोग 7.4.8 प्रयोज्य अंग 7.4.9 मात्रा 7.4.10 विशिष्ट योग 7.4.11 प्रयोगविधि

7.5 ब्राह्मी / मण्डूकपर्णी

7.5.1 नाम 7.5.2 स्वरूप 7.5.3 उत्पत्तिस्थान 7.5.4 रासायनिक संघटन 7.5.5 गुण 7.5.6 कर्म 7.5.7 अहित प्रभाव 7.5.8 प्रयोग 7.5.9 प्रयोज्य अंग 7.5.10 मात्रा 7.5.11 विशिष्ट योग

7.6 गिलोय

7.6.1 नाम 7.6.2 स्वरूप 7.6.3 उत्पत्तिस्थान 7.6.4 रासायनिक संघटन 7.6.5 गुण 7.6.6 दोषकर्म 7.6.7 प्रयोग 7.6.8 प्रयोज्य अंग 7.6.9 विशिष्ट योग

7.7 सारांश

7.8 शब्दावली

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम ऐसे औषधीय पौधों का अध्ययन करेंगे जिन्हें आसानी से घर में उगाया जा सकता है और कई बीमारियों में इनका उपयोग किया जा सकता है। ये सभी पौधे छोटे आकार के हैं और शरीर के विभिन्न अंगों पर कार्य करते हैं।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम तुलसी, घृतकुमारी, ब्राह्मी व गिलोय के बारे में जानेंगे। ये सभी पौधे आसानी से हमारे आसपास ही मिल जाते हैं और बड़े उपयोगी हैं। तुलसी भारत के अमूमन सभी घरों में मिलती है। हिन्दू घरों में तो पहले समय में इसका पौधा अनिवार्य रूप से लगाया जाता था। हमारे बुजुर्ग इसका महत्व कितनी अच्छी तरह जानते थे कि हर घर में तुलसी की पूजा की जाती थी। तुलसी सर्दी जुकाम में लाभकर है, जीवाणुनाशक है, प्रतिरोधक्षमता बढ़ती है। धृतकुमारी पाचनतंत्र व यकृत के बल देने वाली है। ब्राह्मी बुद्धिवर्धक है तो गिलोय ज्वर नाशक है। इनके ऐसे अन्य गुणों, स्वरूप, मात्रा आदि का अध्ययन इस इकाई में करेंगे।

7.3 तुलसी

गण — श्वासहर (च०), सुरसादि, शिरोविरेचन (सु०)

कुल — तुलसी कुल (लैबिएटी — Labiatae)।

7.3.1 नाम — लै० ऑसिमम सैक्टम (Ocimum sanctum);

सं० तुलसी (तुलनारहित), सुरसा (रस उपयोगी होने अथवा देवताओं पर चढ़ने से), अपेतराक्षसी, भूतघ्नी (जन्तुघ्न होने के कारण), बहुमंजरी, देवदुन्दुभि (दुन्दुभि के समान लम्बी मंजरी होने से), सुलभा, ग्राम्या (घर-घर में लगाये जाने से), बं०म०गु०ता०ते० तुलसी, कन्० श्रीतुलसी, मल० मित्तबु, अं० सैक्रेड बेसिल (Sacred Basil); होली बैसिल (Holy Basil)।

7.3.2 स्वरूप — इसका शाखाप्रशाखयुक्त, रोमश, वर्षायु क्षुप 2-4फीट ऊँचा होता है। सारा क्षुप बैंगनी रंग का दिखता है। पत्र एक से ढाई इंच लम्बे, अण्डाकार, आयताकार, लट्वाकार, अखण्ड या दन्तुर, तीक्ष्णाग्र या गोलाग्र, दोनों पृष्ठ पर रोमश, अघःपृष्ठ पर सिराओं के बीच में ग्रन्थियुक्त होते हैं। बैंगनी रंग के छोटे पुष्प 6-8 इंच लम्बी मन्जरियों में सघन चक्रों में आते हैं। पुष्पवृन्त बाह्यकोष के बराबर होता है। बाह्यकोष छोटा, भीतर की ओर चिकना, बाहर से ग्रन्थिल होते हैं। इसके निचले दो दांत बहुत लम्बे शूक से युक्त तथा उपरी आयताकार दांत से लम्बे होते हैं। पार्श्विक दांत लट्वाकार, निचले दांतों से छोटे होते हैं। अन्तःकोष बहुत छोटा प्रायः बाह्यकोष के बराबर होता है। पुंकेसरसूत्र बाहर निकले होते हैं। बीज अंडाकार या गोलाकार, कुछ चपटे, प्रायः चिकने, भूरे या रक्ताभ, छोटे काले धब्बों से युक्त होते हैं पुष्प और फल शीत ऋतु में आते हैं।

जाति — सुश्रुतसंहिता में सुरसा और श्वेत सुरसा ये दो शब्द मिलते हैं फणिज्झक भी इसी का भेद प्रतीत होता है। भाव प्रकाश-निघण्टु में शुक्ल और कृष्ण दो भेद किये गये हैं। जिसके पुष्प प्रायः श्वेत होते हैं श्वेत सुरसा हो सकती है फणिज्झक हो सकता है। इसे रामतुलसी भी कहते हैं।

7.3.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत में सर्वत्र मिलती है। हिमालय में 6 हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

7.3.4 रासायनिक संघटन — इसकी पत्तियां तथा पुष्प मंजरी से एक लवंगगन्धि उड़नशील तेल (0.1-0.23 प्रतिशत) प्राप्त होता है। इसमें फेनोल 45-76 प्रतिशत तथा अल्डीहाइड 15-25 प्रतिशत होता है। बीजों से एक स्थिर तेल 17.8 प्रतिशत निकलता है। इनके अतिरिक्त पौधे में क्षाराभ, ग्लाइकोसाइड और टैनिन होते हैं। पत्तियों में ऐस्कार्बिक एसिड और केरोटिन होते हैं।

7.3.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष **रस** — कटु, तिक्त

विपाक — कटु **वीर्य** — उष्ण

प्रभाव — कृमिघ्न

7.3.6 कर्म

दोषकर्म — यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह जन्तुघ्न, वेदनाहर, शोथहर, त्वग्दोषहर तथा शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर नाडीसंस्थान — यह वेदनाहर तथा आक्षेपशामक है।

पाचनसंस्थान — यह दीपन, पाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान — हृद्य है। रक्तशोधक भी है।

श्वंसनसंस्थान — यह कासहर, श्वासहर तथा क्षयनाशक है। इसके उड़नशील तेल में क्षयनाशक शक्ति स्ट्रेटोप्टोमाइसिन की अपेक्षा दशमांश तथा आइसोनियोजिड में चतुर्थांश है।

मूत्रवहसंस्थान — इसके बीज मूत्रल हैं।

प्रजननसंस्थान — बीज शुक्रल हैं।

त्वचा — यह त्वग्दोषहर है।

तापक्रम — यह ज्वरघ्न तथा शीतशमन है।

सात्मीकरण — विषघ्न है। बीज बल्य है।

7.3.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह वातश्लैष्मिक विकारों के लिये प्रशस्त है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — कच्छू, द्रु आदि में इसकी पत्तियां पीस कर लगाते हैं। इसके पत्र का स्वरस का शिरारोग में नस्य के रूप में प्रयुक्त होता है। कर्णशूल में भी पत्रस्वरस डालते हैं। यह मच्छड़ आदि कीड़ों का भी नाश करती है। कहते हैं जहां तुलसी के पौधे होते हैं वहीं से मच्छड़ों का सफाया हो जाता है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — यह अनेक वेदना तथा आक्षेपयुक्त विकारों में प्रयुक्त होती है।

पाचनसंस्थान — अग्निमांद्य, विष्टम्भ तथा कृमिरोग के लिये उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान — हृदयदौर्बल्य तथा रक्तविकारों में लाभकर है।

श्वंसनसंस्थान — कास, श्वास, पार्श्वशूल तथा यक्ष्मा के लिये अतीव प्रशस्त है। इन रोगों में पत्रस्वरस का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ में इसके बीजों का लुआब पिलाते हैं।

प्रजननसंस्थान — शुक्रमेह में बीजों का प्रयोग लाभकर है।

त्वचा — त्वचागत विकारों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम — वातश्लैष्मिक ज्वर, प्रतिश्याय आदि में तुलसी प्रसिद्ध औषध है। मारिच के साथ तुलसी पत्ते चबा जाते हैं या पत्रस्वरस पीते हैं। विषमज्वर या शीतप्रधान ज्वर में विशेष रूप से लाभकर है।

सात्मीकरण — विभिन्न विषों के निवारण के लिये इसका प्रयोग होता है। बीजों का प्रयोग दौर्बल्य में करते हैं

7.3.8 प्रयोज्य अंग — पत्र, पुष्प, बीज, मूल।

7.3.9 मात्रा — चूर्ण 1-3ग्रा०, स्वरस 5-10 मि०लि०।

7.4 घृतकुमारी

कुल — रसोन कुल — लिलिएसी — Liliaceae)।

7.4.1 नाम — लै० ऐलोवेरा पाइपरेसी (Aloe vera Tourn. Ex Linn.)।

सं०—कुमारी, गृहकन्या, घृतकुमारिका (घृतवत् पिच्छिल मत्रमज्जा होने से) हि०—धीकुआंर, ग्वारपाठा, ढेकवार, पं०—कुवारगंदल, बं०—घृतकुमारी, म०—कोरफड, गु०—कुंवार, ता०—चिरूली, ते०—चिन्नकट, कन्न०—लोलिसार, मल०—कुमारी अं०—इण्डियन ऐलो (Indian aloe)।

7.4.2 स्वरूप — इसका क्षुप 1-2फुट ऊँचा होता है। पत्तियां 15इंच लम्बी, 4 इंच चौड़ी, मोटी, मांसल, कंटकित—दन्तुर, चक्राकार या दो की पंक्तियों में सघन रूप से व्यवस्थित होती है। पत्तियों के भीतर घी के समान पिच्छिल मज्जा होती है। क्षुप के मध्य से लम्बा पुष्पध्वज निकलता है जिसमें रक्ताभ पुष्प आते हैं। शीत काल के अंत में पुष्प और फल लगते हैं।

परिपुष्प के अवयव मिलकर एक बेलनाकार या घंटिकाकार नलिका बनाते हैं। पुंकेशर परिपुष्प के बराबर या उससे अधिक लंबे, केशरसूत्र संयोजक के एक खात में निविष्ट रहते हैं। फल कोष्ठस्फोटी होते हैं। इसके पत्र को काटने पर उससे एक पीले रंग का रस निकलता है जो ठंडा होने पर जम जाता है। उसे 'कुमारीसार' कहते हैं। इसके विभिन्न नाम निम्नांकित हैं।

सं०—कुमारीसार, सहासार, कन्यासार, हि०—मुसब्बर, एलुआ, म०—एलिया, कालाबोल, गु०—एलियो, फा०—शबयार, अं०—एलोज (Aloes)।

प्रायः दो प्रकार से इसका निर्माण किया जाता है। जब रस को धूप में या मन्द आंच पर गरम किया जाता है तो उससे एक अपारदर्शक, मोमवत् सत्त्व प्राप्त होता है जिसे यकृदवत् कुमारीसार (Hepatic- aloes)। कहते हैं। किन्तु जब रस को त्रीव आंच पर जल्दी सुखा देते हैं तो एक अपारदर्शक सत्त्व मिलता है जिसे काचवत् कुमारीसार (Glaassy aloes) कहते हैं। यह अलकोहल में विलेय होता है और इसमें 5 प्रतिशत से अधिक राख नहीं होनी चाहिए।

जाति — भारतीय फार्माकोपिया में तीन प्रकार का मुसब्बर स्वीकृत किया गया है :—

1. कुराकाओ (Curacao) — यह ऐलो वेरा पौधे से प्राप्त किया जाता है तथा अपारदर्शक भूरे—काले रंग का होता है।

2. स्कोतरी (Socotrine aloes) — यह ऐलो पैरी पौधे से प्राप्त होता है तथा रक्ताभ—काला या भूरा—काला, अपारदर्शक और चमकीला होता है।
3. अन्तरीपीय (Cape aloes) — यह एलो फेरोक्स या उसके संकर पौधों से प्राप्त होता है। यह गहरे या हरिताभ भूरे रंग का चूर्ण होता है। ग्लिसरीन में मिलाकर देखने से इसमें भूरे माध्यम में अंसख्य स्फटकीय कण दिखाई पड़ते हैं।

इनके अतिरिक्त नेटाल, मोका, जाफरावादी आदि अन्य जातियां भी होती हैं।

भारतीय प्रजाति के भी 2-3 प्रकार पाये जाते हैं। var. chinensis Baker दक्षिण भारत और मध्य भारत में होता है। इसका पत्राधार बैंगनी होता है तथा कांटे तीक्ष्ण नहीं होते var. littoralis koeing ex Baker मद्रास से रामेश्वर तक समुद्रतटवर्ती क्षेत्र में होता है जिसके पत्र छोटे और दन्तुरधार होते हैं। एक प्रकार काठियावाड़ क्षेत्र में होता है जिससे जाफरवादी मुसब्बर प्राप्त होता है। एक मिलता जुलता पौधा A.variegata Linn. महाराष्ट्र में होता है जिसके पत्ते बड़े तीक्ष्णकंटक और पत्राधार पर सफेद धब्बों से युक्त होते हैं।

7.4.3 उत्पत्तिस्थान — इसका मूल स्थान उत्तरी अफ्रीका, कनारी द्वीपसमूह तथा स्पेन है जहां से यह पश्चिमी द्वीप समूह भारत, चीन आदि देशों में फैला है। संप्रति भारत में सर्वत्र प्राप्त होता है। पहले अफ्रीका और जर्मनी से इसका आयात होता था किन्तु अब बंद हो गया है।

7.4.4 रासायनिक संघटन — एलुआ में एलोइन (Aloin) नामक ग्लूकोसाइड समूह होता है जिसके कारण इसकी क्रिया होती है। कुराकाओं जाति में यह 30 प्रतिशत सकोतरी में उससे कम और अन्तरीपीय जाति में केवल 10 प्रतिशत होता है। एलोइन का मुख्य घटक बार्वेलोइन नामक हलके पीले रंग का स्फटिकीय ग्लूकोसाइड है। इसके अतिरिक्त कुछ राल तथा एक सुगन्धित तेल होता है।

7.4.5 गुण — गुरू, स्निग्ध, पिच्छिल **रस** — कटु
विपाक — तिक्त **वीर्य** — शीत
एलुआ लघु रूक्ष तीक्ष्ण और उष्ण है।

7.4.6 कर्म

दोषकर्म — यह तिक्त होने से कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह शोथहर, वेदनास्थापन तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — अल्प मात्रा में यह दीपन, पाचन, भेदन तथा बड़ी मात्रा में विरेचन और कृमिघ्न है। इसकी कुछ क्रिया क्षुद्रान्न पर होती है जिससे पित्त का प्रवाह बढ़ जाता है किन्तु विशिष्ट क्रिया वृहदन्न की पेशियों पर होती है जिससे प्रबल संकोच होने लगता है। कुछ ग्रंथियों का स्राव भी बढ़ जाता है। इसकी क्रिया मंद होती है और दस्त होने में प्रायः 10-12 घंटे लग जाते हैं। अधिक मात्रा देने पर समय तो उतना ही लगता है और दस्त के साथ मरोड़ कुन्थन और कभी—कभी रक्त आ जाता है। सामान्य मात्रा में बंधे हुए, मुलायम और गहरे रंग के होते हैं किन्तु बड़ी

मात्रा में देने पर पतले दस्त आते हैं। इसकी क्रिया में विलम्ब होने का कारण यह है कि क्षुद्रान्न में जाने पर जब पित्त के साथ मिलता है तभी अधिक क्रियाशील होता है। इससे गुद में रक्ताधिक्य भी होता है जिसके कारण इसका अधिक प्रयोग करने से अर्श होने की आशंका होती है।

रक्तवहसंस्थान — यह रक्तशोधक और शोधहर है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान — यह स्निग्ध—पिच्छिल होने से वृष्य है। यह उष्ण होने से गर्भाशयगत रक्तसंवहन को बढ़ा देता है तथा गर्भाशय की पेशियों को उत्तेजित कर उनका संकोच बढ़ा देता है। इस कारण आर्तवजनन और गर्भस्रावकर है।

त्वचा — यह त्वग्दोषहर है।

तापक्रम — ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — पत्रमज्जा स्निग्ध—पिच्छिल होने से बल्य और बृंहण है।

उत्सर्ग — यह स्तन्य के द्वारा और कुछ मूत्र के द्वारा बाहर निकलता है।

शोषण — क्षत त्वचा के द्वारा भी इसका शोषण होता है और उससे भी रेचन हो सकता है।

7.4.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपैक्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — शोथवेदनायुक्त विकारों में मुसब्बर का लेप करते हैं। जीर्ण व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं। कुमारी की मज्जा पर हल्दी का चूर्ण छिड़क कर गरम कर शोथ—वेदना तथा प्लीहावृद्धि में बांधते हैं। इसका स्वरस नेत्राभिष्यन्द में डालते हैं। पत्रमज्जा दाहपीडायुक्त शिरारोगों तथा नेत्ररोगों में बांधते हैं।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — अग्निमांद्य, उदररोग, गुल्म, प्लीहा, उदरशूल, विबन्ध तथा कृमि में इसका स्वरस प्रयोग करते हैं। कृमिरोग विशेषतः तन्तुकृमि में एलुआकी वस्ति भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान — रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ में कुमारीस्वरस देते हैं।

प्रजननसंस्थान — शुक्रदौर्बल्य में इसका स्वरस तथा रजरोध में एलुआ प्रयुक्त होता है। रजरोध में एलुआ की वर्ति भी योनि में रखते हैं।

त्वचा — चर्मरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम — जीर्णज्वर में यह लाभकर है।

सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य में पत्रमज्जा का पाक बना कर देते हैं।

7.4.8 प्रयोज्य अंग — पत्र।

7.4.9 मात्रा — पत्रस्वरस 10-20 मि०लि०, एलुआ (चूर्ण) 0.1-0.3 ग्राम

7.4.10 विशिष्ट योग — कुमार्यासव, कुमारिवटिका, रजःप्रवर्तनी वटी, कुमारीपाक।

7.4.11 प्रयोगविधि —

- 1- रेचन के लिये इसके क्षार तथा अन्य वातहर द्रव्यों को मिलावे जिससे मरोड़ न होने पावे।
- 2- आर्तवजनन के लिये रजःकाल से एक सप्ताह पूर्व से इसका सेवन प्रारम्भ करा देना चाहिए।

7.5 ब्राह्मी-मण्डूकपर्णी

गण — तिक्तस्कन्ध, प्रजास्थापन, वयःस्थापन (च०), तिक्तवर्ग (सु०)।

कुल — शतपुष्पा — कुल — अम्बेलिफेरी — Umbelliferae)

7.5.1 नाम — लै० सेण्टेला एशियाटिका (Centella asiatica)

सं० मण्डूकपर्णी (मण्डूक — मेढक के समान पत्रावली), माण्डूकी (सम्भवतः मण्डूकत्व जलासन्न स्थानों में होने के कारण या मण्डूक ऋषि के द्वारा प्रचारित होने के कारण या मण्डूकवत् भूमि पर इतस्ततः फैलने के कारण इसे माण्डूकी कहा गया है)। ब्राह्मी (बुद्धिवर्धक होने के कारण), सरस्वती, (मेध्य तथा जलासन्न भूमि में होने के कारण)। हि०— बेंगसाग, ब्राह्मी, बं०—थुलकुडी, म०— करिवण, गु०—खण्डब्राह्मी, ता०—वाल्लरीकिरि, ते०—मण्डूकब्राह्मी।

7.5.2 स्वरूप — इसका क्षुप वर्षायु होता है जो कभी-कभी दो तीन वर्षों तक भी रहता है। इसका लंबा काण्ड जमीन पर फैला रहता है। जिसके प्रत्येक पत्र से मूल पत्र, पुष्प तथा फलों का उद्गम होता है। फल — गोल, वृक्काकृति, लम्बे, चौड़े, सात सिराओं से युक्त, स्वाद में तिक्त होते हैं। पुष्प — छोटे रक्तवर्ण, बसन्त ऋतु में होते हैं। फल छोटे, ग्रीष्म ऋतु में होते हैं जिनमें चपटे बीज रहते हैं। मूल— सूक्ष्म और सूत्रवत् होते हैं।

7.5.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत और लंका में सर्वत्र 2000 फीट की ऊँचाई तक मिलती है और प्रायः जलाशयों और नदी-नालों के किनारे होती है।

7.5.4 रासायनिक संघटन — इनमें हाइड्रोकोटिलिन (Hydrocotyline, C22 H32 O8 N) नामक क्षाराभ पाया जाता है। इसकी ताजी पत्तियों में प्रति किलो 0.7 में 0.12 ग्रेन तक एशियाटिकोसाइड (Asiaticoside) नामक ग्लाइकोसाइड निकाला गया है। इनके अतिरिक्त, इसमें बेलेरिन, राल, तिक्त पदार्थ पेक्टिक अम्ल, स्टेराल, टैनिन, उडनशील तेल तथा ऐसकोर्बिक अम्ल पाये जाते हैं। थानकुनिसाइड नामक अन्य ग्लाइकोसाइड तथा थानकुनिक अम्ल का भी पता चला है। एशियाटिक अम्ल की भी उपस्थिति पाई गयी है। इनके अतिरिक्त, ब्राहोसाइड, ब्राह्मिनोसाइड, ब्राह्मि एसिड, आइजोब्राह्मिक एसिड, बेटुलिक एसिड तथा स्टिग्मोस्टेरोल ये छः तत्व भी इससे निकाले गये हैं।

7.5.5 गुण

गुण — लघु **रस** — तिक्त **अनुरस** — कषाय

विपाक — मधुरवीर्य — शीत **प्रभाव** — मेध्य

7.5.6 कर्म

दोषकर्म — मण्डूकपर्णी तिक्त होने के कारण कफ और पित्त का शमन करती है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — त्वचा पर लेप करने से रक्तसंवहन शीघ्र होता है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — यह मेध्य है और स्मरणशक्ति को बढ़ाती है। विशेषकर इससे मस्तिष्क की धारणा शक्ति बढ़ती है। मस्तिष्क शामक भी है।

पाचनसंस्थान — तिक्तरस होने के कारण यह अग्नि को दीप्त करता है अमीबा का भी नाशक है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृद्य है और शोथ को दूर करता है तथा रक्तपित्त शामक है।

श्वसनसंस्थान — तिक्तरस होने के कारण इससे कफ का निःसरण सुविधा से होता है और स्वर साफ होता है।

मूत्रवहसंस्थान — तिक्त होने से यह प्रमेहघ्न है।

प्रजननसंस्थान — इससे त्वचा की रक्तवाहिनीयां प्रसारित हो जाती है, अतः त्वचागत रक्तसंवहन उत्तम होने से इसकी क्रिया विविध चर्मरोगों पर लाभकर होती है। इससे व्रणों का शोधन एवं रोपण होता है।

तापक्रम — तिक्तरस होने के कारण यह आमपाचन एवं ज्वरहर है।

सात्मीकरण — मधुरविपाक तथा शीतवीर्य होने के कारण यह बल्य एवं वयःस्थापन है। इससे शरीर के सभी अंगों की क्रिया उत्तेजित होती है जिससे आरोग्य होता है और बल तथा आयु की वृद्धि होती है।

उत्सर्ग — इसका उत्सर्ग त्वचा एवं वृक्कों से होता है और उत्सर्गकाल में इन अवयवों को उत्तेजित करती है।

7.5.7 अहित प्रभाव — इसके अतियोग से कभी-कभी शीतजन्य वातवृद्धि के कारण मद, शिरःशूल, भ्रम और अवसाद उत्पन्न होते हैं। त्वचा में लालिमा और कण्डू होती है। ऐसी अवस्था में मात्रा कम कर दें या प्रयोग बंद कर दें।

7.5.8 प्रयोग

दोषप्रयोग — मण्डूकपर्णी कफपैतिक विकारों में प्रयुक्त होती है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — कुष्ठ, व्रण तथा अन्य चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — मेध्य और स्मृतिशक्तिवर्धक होने के कारण इसका प्रयोग मस्तिष्कदौर्बल्य एवं तज्जनित उन्माद, अपस्मार आदि विकारों में करते हैं।

पाचनसंस्थान — दीपन होने के कारण इसका प्रयोग अग्निमांद्र ग्रहणी आदि रोगों में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान — हृदय की दुर्बलता तथा तज्जन्य शोथ में इसका प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त, रक्तपित्त में भी प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान — कफनिःसारक होने के कारण कास, श्वास तथा स्वरभेद में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान — प्रमेह में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान — स्तन्यजनन तथा स्तन्यशोधन होने से प्रसव के बाद स्तन्य की कमी एवं विकृति होने पर प्रयोग करते हैं।

त्वचा — कुष्ठघ्न होने के कारण कुष्ठ, विशेषतः ग्रन्थिक कुष्ठ, जीर्ण व्रण तथा क्षयज व्रण में प्रयुक्त होती है। फिरंग की द्वितीयवस्था में जब विकार त्वचा एवं कला में अधिष्ठित होता है। तब इसके प्रयोग से लाभ होता है। गंडमाला, श्लीपद आदि में भी उपयोगी है।

तापक्रम — आमपाचन तथा ज्वरघ्न होने के कारण आमदोष एवं तज्जन्य ज्वर आदि विकारों में प्रयोग होता है।

सात्मीकरण — वयःस्थापन और बल्य होने से सामान्य दौर्बल्य में रसायन के रूप में इसका प्रयोग करते हैं।

7.5.9 प्रयोज्य अंग — पंचाग

7.5.10 मात्रा — स्वरस 10-20 मि०लि०।

7.5.11 विशिष्ट योग — ब्राह्मीपानक, ब्राह्मीतेल, सारस्वतारिष्ट, सारस्वत घृत।

7.5.12 निवारण — इसके अहितकर प्रभाव के निवारण के लिए विरेचन तथा अन्य वातशामक औषध विशेषतः सूखी धनियां उपयुक्त होती है।

7.5.13 वक्तव्य — मण्डूकपर्णी को यदि सुखाने की आवश्यकता हो तो छाया में ही सुखाना चाहिए क्योंकि धूप में सुखाने से इसका उड़नशील तेल उड़ जाता है जिससे उसकी शक्ति कम हो जाती है। इसी कारण इसका क्वाथ या फाण्ट भी नहीं बनाया जाता है। एक दूसरी किस्म *Bacopa monerie* को भी ब्राह्मी के स्थान में प्रयोग किया जाता है।

7.6 गिलोय

गण — वयःस्थापन, दाहप्रशमन, तृष्णानिग्रहण, स्तन्यशोधन, तृप्तिघ्न (च०), गुडूच्यादि, पटोलादि, आरगवाधादि, काकोल्यादि, बल्लीपंचमूल (सु०)

कुल — गुडूची, कुल — मेनिस्पर्मैसी — (Menispermaceae)।

7.6.1 नाम — लै० टिनोस्पोरा कॉडिकोलिया (*Tinaospora cordifolia*)।

सं०—गुडूची, मधुपर्णी, अमृता, छिन्नरूहा, वत्सादनी, तन्त्रिका, कुण्डलिनी, चक्रलक्षणिका, हि०गिलोय, गुडिच, बं०—गुलच्च, म०—गुलबेल, गु०—गलोः, ता०—शिण्डिलकोडि अं०—गुलच्च।

7.6.2 स्वरूप — यह एक बहुवर्षीय झाड़ीदार लता है जो नीम, आम आदि वृक्षों पर कुण्डलाकार चढ़ती है। काण्ड मांसल होता है तथा शाखाओं से अनेक मांसल सूत्रवत् वातःशन मूल निकल कर नीचे की ओर झूलते रहते हैं। त्वचा ऊपर की ओर धूसरवर्ण, या पीताभ श्वेत, बहुत पतली होती है जिसे हटाने पर नीचे हरित—मांसल भाग दिखाई पड़ता है। पत्र हृदयाकार, एकान्तर, जालीदार और स्निग्ध होते हैं। पुपुष छोटे, पीतवर्ण या हरिताभ पीत, अक्षीय या अन्त्य मंजरियों में पौधे की पत्तियां झड़ने पर निकलते हैं। पुपुष गुच्छों में होते हैं। स्त्रीपुष प्रायः एकल होते हैं। फल मटर के समान या अंडाकार, चिकने, मांसल होते हैं जो पकने पर लाल हो जाते हैं। बीज मुड़े होते हैं। वर्षा ऋतु में पुष तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

जाति — इसकी एक जाति — 'पद्मगुडूची' या 'कन्दगुडूची' कहलाती है। इसके पत्र बड़े तथा त्रिकोण या त्रिखण्ड होते हैं। यह *T. sinensis* (Lour) Merrill है। एक अन्य प्रजाति *T. crispa* (Linn.) Miers ex. Hook f. & Thoms. आसाम में होती है। इसके काण्ड में जगह—जगह उत्सेध होते हैं। यह त्रीव ज्वरघ्न होता है।

7.6.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत में सर्वत्र 1000 फीट की ऊँचाई तक होता है।

7.6.4 रासायनिकसंघटन — इसमें बर्बेरिन (Berberine) आदि क्षाराभ, तिक्त ग्लुकोसाइड गिलोहन (Giloin), एक उड़नशील तेल तथा वसाम्ल पाये जाते हैं। इसके काण्ड से एक स्टार्च निकलता है।

7.6.5 गुण

गुण — गुरू, स्निग्ध **रस** — तिक्त, कषाय

विपाक — मधुर **वीर्य** — उष्ण

7.6.6 दोषकर्म — यह त्रिदोषशामक है। स्निग्ध—उष्ण होने से वात, तिक्त—कषाय होने से कफ और पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह कुष्ठघ्न और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — यह तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, दीपन, पाचन, पित्तसारक, अनुलोमन और कृमिघ्न है। आमाशयगत अम्लता इससे कम होती है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृदय, रक्तशोधक एवं रक्तवर्धक है।

श्वसनसंस्थान — कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान — वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान — यह प्रमेहहर है।

त्वचा — कृष्ठघ्न है।

तापक्रम — ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण — रसायन है।

7.6.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है। घृत के साथ, वात, शर्करा के साथ पित्त तथा मधु के साथ कफ के विकारों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — कुष्ठ, वातरक्त आदि में गुडूची से सिद्ध तेल लगाते हैं।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — तृष्णा, छर्दि, अग्निमाद्य शूल, यकृद्विकार, कामला, अम्लपित्त, प्रवाहिका, ग्रहणी तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान — हृदौर्बल्य, रक्तविकार तथा पाण्डु में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान — कास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान — शुक्रदौर्बल्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान — प्रमेह विशेषतः मधुमेह में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा — कुष्ठ, विषर्प, आदि चर्मरोगों में दिया जाता है। फिरंग की द्वितीयावस्था में जब विकार त्वचा में अधिष्ठित होता है तब इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम — जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में गुडूची—स्वरस देते हैं। इससे ज्वर दाह शांत होते हैं, अग्नि बढ़ती है तथा दौर्बल्य दूर होता है।

सात्मीकरण — दौर्बल्य, क्षय में तथा रसायनकर्म में उपयोगी है।

7.6.8 प्रयोज्य अंग — काण्ड।

मात्रा — क्वाथ 50-100 मि०लि०, चूर्ण 3-6 ग्राम, सत्त्व 1-2 ग्राम।

7.6.9 विशिष्ट योग — गुडूच्यादि चूर्ण, गुडूच्यादि क्वाथ, गुडूचीलौह, अमृत्तारिष्ट, गुडूचीतेल।

वक्तव्य — यथासंभव ताजी गुडूची का ही प्रयोग करना चाहिए। संग्रह करना हो तो वर्षों के पूर्व उसे छाया में सुखा कर रखना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1— गिलोय का लैटिन नाम बताइये।

उत्तर —

प्रश्न 2— ब्राह्मी का प्रयोज्यांग क्या है?

उत्तर —

प्रश्न 3— घृतकुमारी का प्रयोज्यांग बताइये।

उत्तर —

प्रश्न 4— सुरसा निम्न में से किसका पर्याय है ?

उत्तर —क— तुलसी , ख— ब्राह्मी

7.7 सारांश

इस इकाई में हमने जाना कि कैसे तुलसी, घृतकुमारी, गिलोय, ब्राह्मी का सामान्य रोगों में प्रयोग किया जा सकता है। इनका स्वरूप कैसा है। इनके किस भाग का कितनी मात्रा में प्रयोग कर सकते हैं। इस इकाई को पढ़कर आप आसानी से अपने घर की वाटिका में भी इन औषधीय पौधों को उगा सकते हैं।

7.8 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अं०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।
च०—चरकसंहिता, अ०सं०—अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०—अष्टांगहृदय, चक्र०—चक्रदत्त, यो०र०—योगरत्नाकर, आ०वि०—आयुर्वेदविज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश, भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता, सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला,

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. *Tinospora cordifolia* ,
2. पंचांग ,
3. पत्र
4. क. तुलसी

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टांगसंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indigenous Drugs of India, Calcutta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

7.11 निबंधात्मक प्रश्न :—

1. गिलोय का सत्व प्राप्त करने का तरीका बताइये।
2. घृतकुमारी के स्वरूप और उपयोग के बारे में विस्तार से बताइये।

इकाई — 8 — गेहूं ज्वारे, जौ ज्वारे, गेंदा, चिरायता

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 गेहूं

8.3.1 नाम 8.3.2 प्रयोग

8.4 जौ

8.4.1 नाम 8.4.2 उपयोग

8.5 गेंदा

8.5.1 नाम 8.5.2 स्वरूप 8.5.3 रासायनिक संघटन 8.5.4 गुण 8.5.5 कर्म 8.5.6 प्रयोग

8.5.7 प्रयोज्य अंग 8.5.8 मात्रा

8.6 चिरायता

8.6.1 नाम 8.6.2 स्वरूप 8.6.3 उत्पत्तिस्थान 8.6.4 रासायनिक संघटन 8.6.5 गुण

8.6.6 कर्म 8.6.7 प्रयोग 8.6.8 प्रयोज्य अंग 8.6.9 मात्रा 8.6.10 विशिष्ट योग

8.7 सारांश

8.8 शब्दावली

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.11 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम ऐसे औषधीय पौधों का अध्ययन करेंगे जो भारत में खेतों, जंगलों में बहुतायत में मिलते हैं। छोटे आकार के हैं आवश्यकता होने पर घर में भी उगाए जा सकते हैं। सही जानकारी हो तो कई गम्भीर रोगों में भी युक्तिपूर्वक इनका प्रयोग किया जा सकता है।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम गेहूं के ज्वारे, जौ के ज्वारे, गेंदा और चिरायता का अध्ययन करेंगे। गेहूं, जौ आदि हमारे देश में खेतों में उगाई जाने वाली अनाज की मुख्य फसलें हैं। गेंदा सामान्यतः सभी घरों की पुष्पवाटिका में उगाया जाता है। इसके सुन्दर फूल सभी को भाते हैं। मंदिरों में काम आते हैं सामान्यतः लोग इनके इसी प्रकार के उपयोग से परिचित हैं पर इस इकाई के माध्यम से हम जान सकेंगे कि इनके औषधीय उपयोग भी हैं। चिरायता भी वन क्षेत्र में आसानी से प्राप्त हो जाता है। इस इकाई के

अध्ययन से हम जान सकेंगे कि इन्हें कैसे उगाया जाता है, इनके किस भाग का हम कितनी मात्रा में किस रोग में प्रयोग कर सकते हैं।

8.3 गेहूँ

8.3.1 नाम—इसे हिन्दी में गेहूँ, संस्कृत में गोधूम, बंगला में गियू, गोम, तमिल में गोदुमाई, गोहंग, गोदुम्बयारिसी, कन्नड़ में गोधी, मलयालम में गेन्दुम, गदम्बा तथा अंग्रेजी में Wheat व latin में *Triticum aestivum* कहते हैं यह Gramineae family का पौधा है।

गेहूँ आदि काल से उगाया जाता रहा है। ईजिप्ट में पाए गए ऐतिहासिक प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि यह उस काल में भी उगाया जाता था। ईजिप्ट में पाए गए 3359 बी०सी० पुराने पिरामिड में भी गेहूँ की एक प्रजाति पाई गई, ऐसी ही प्रजाति स्विटजरलैंड में भी खुदाई में मिली है। प्राचीन काल से ही गेहूँ का अस्तित्व रहा है।

भारत दुनियाभर का लगभग 3.5 प्रतिशत गेहूँ उगाता है। यह उत्तरी भारत की एक मुख्य खाद्यान्न उपज है। भारत में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, गुजरात, महाराष्ट्र इसके मुख्य उत्पादक प्रदेश हैं। मोहनजोदड़ो की खुदाई में मिले साक्ष्यों से पता चलता है कि ऐतिहासिक काल से ही उत्तर भारत में इसकी बड़े पैमाने पर खेती होती थी और यह यहां के आहार का मुख्य घटक रहा। गेहूँ की 18 ज्ञात प्रजातियों में से 5 भारत में उगाई जाती हैं। भारत में अधिकांश प्रजातियां बोने से 4 से 6 माह में पककर तैयार हो जाती हैं। उत्तर भारत में अक्टूबर— नवम्बर में गेहूँ बोया जाता है और मार्च— अप्रैल में इसकी फसल काटी जाती है। इसके बीजों को हाथ से झाड़कर या थ्रेसर से निकाल किया जाता है।

8.3.2 प्रयोग— गेहूँ से आटा, मैदा या सूजी बनाकर इसका विभिन्न प्रकार से खाने में प्रयोग किया जाता है। इसकी रोटी, दलिया, ब्रैड, बेकरी उत्पाद बनाकर खाए जाते हैं। इसमें प्रचुर मात्रा में स्टार्च पाया जाता है।

अंकुरित गेहूँ व इसके ज्वारे में प्रोटीन व विटामिन खासकर विटामिन ई भी बड़ी मात्रा में मिलता है। गेहूँ का सूखा भूसा व हरे ज्वारे पशुओं के लिए एक अच्छा चारा है।

इसके ज्वारे (नए पौधों के ऊपरी भाग) के 20-40 मिलि० स्वरस का प्रयोग कैंसर की प्रारम्भिक अवस्थाओं में करना लाभकर होता है। यह स्वरस शरीर के शोथ को भी दूर करता है। यह शरीर को सामान्य ताकत के साथ साथ रोग प्रतिरोधकता बढ़ाता है।

8.4 जौ

8.4.1 नाम— इसे हिन्दी में जौ, संस्कृत में यव, बंगला में जब, मराठी में जवा, तेलुगु में बार्लिबियम, कन्नड़ में जवेगाधि, तमिल में बार्लियार्सि, पंजाबी में जउं तथा अंग्रेजी में barley कहते हैं। यह Gramineae कुल का पौधा है इसका लैटिन नाम *Hordeum vulgare* है।

यह सबसे प्राचीन काल से उगाया जाने वाला पौधा है। चीन में इसे ईसा पूर्व 2700 वर्ष से उगाए जाने के प्रमाण मिले हैं। प्रागैतिहासिक काल में भी इसकी खेती किए जाने के प्रमाण मिले हैं। *H. distichum* नाम की इसकी जंगली प्रजाति भी पाई जाती है जो स्वतः उगती है। जौ उगाये जाने वाले अनाजों में सबसे पुराना है और सभी प्राचीन सभ्यताओं में इसकी खेती प्रचलित रही है।

जौ उत्तर भारत में रबी की फसलों में अकले या अन्य अनाजों के साथ मिश्रित खती के रूप में उगाया जाता है। यह मुख्यतः उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, बिहार व बंगाल में उगाया जाता है। इसे अक्टूबर से दिसम्बर के बीच बोया जाता है और फरवरी से अप्रैल के बीच काटा जाता है।

8.4.2 उपयोग— जौ में कार्बोहाइड्रेट व प्रोटीन की प्रचुर मात्रा पाई जाती है। उत्तर भारत में इसके आटे को रोटी खाई जाती है। इसके आटे को अन्य अनाजों के आटे के साथ मिलाकर भी प्रयोग किया जाता है। इसका सत्तू भी प्रचलित है और जौ से अन्य अल्कोहॉलिक पेय भी बनाए जाते हैं।

भारत में जौ की तीन प्रजातियां उगाई जाती हैं दानों में 6 रेखा, 4 रेखा व 2 रेखा वाली। 6 रेखाओं वाली प्रजाति में प्रोटीन अधिक पाया जाता है। 2 रेखाओं वाली जौ बियर व अल्कोहल बनाने में उपयोग होती है। 4 रेखाओं वाली जौ बीमार व कमजोर लोगों के लिए लाभकर है। जौ पशुओं के आहार के रूप में भी उपयोग में लाया जाता है। **अंकुरित जौ के ज्वारे में प्रोटीन व विटामिन खासकर विटामिन ई भी बड़ी मात्रा में मिलता है।**

इसके ज्वारे (नए पौधों के ऊपरी भाग) के 20-40 मिलि० स्वरस का प्रयोग कैंसर की प्रारम्भिक अवस्थाओं में करना लाभकर होता है। यह स्वरस शरीर के शोथ को भी दूर करता है। यह शरीर को सामान्य ताकत के साथ साथ रोग प्रतिरोधकता बढ़ाता है।

8.5 गेंदा

कुल — भृगराज — कुल (कम्पोजिटी — Compositae)

8.5.1 नाम — लै० टैगेटस इरेक्टा (Tagetes erecta Linn.)

सं०—झण्डु, हि०—गेंदा, बं०—गेंदा, मं०—झेंडु, गु०—गलगोटो, फा०—गुलहजारा, अं०—ऐजटेक और अफ्रिकन मेरी गोल्ड (Aztec or African marigold)

8.5.2 स्वरूप — इसका गुल्मजातीय रोमश क्षुप होता है। कांड और शाखायें कोणयुक्त तथा रोमश होती हैं। पत्र एकान्तर, पक्षवत्, विभक्त, रोमश, उग्रगंथि, भालाकार या आयताकार, दन्तुर होते हैं। पुष्पमुंडक गहरे पीले या नारंगी रंग के होते हैं। बीज लम्बे और कृष्णवर्ण होते हैं। शीतकाल के प्रारंभ में पुष्प लगते हैं।

जाति — पुष्प के वर्णभेद तथा आकृतिभेद से इसकी अनेक जातियां होती हैं।

उत्पत्तिस्थान — यह मूलतः मैक्सिको में पाया जाता है, तथा समस्त भारत में भी होता है।

8.5.3 रासायनिक संघटन — ऊर्ध्वपातन द्वारा पौधे से एक उग्रगंथि तेल (Tagetes oil) प्राप्त होता है। पुष्प में अनेक रंजक द्रव्य होते हैं। बीजों में 24 प्रतिशत प्रोटीन तथा 20 प्रतिशत तेल होता है। अनेक क्षाराभों के संकेत मिले हैं।

8.5.4 गुण

गुण — लघु, रूक्ष **रस** — तिक्त, कषाय

विपाक — कटु **वीर्य** — शीत

8.5.5 कर्म

दोषकर्म — कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह रक्तरोधक तथा शोथहर है।

आभ्यन्तर—रक्तवहसंस्थान — रक्तशोधक एवं रक्तरोधक है।

8.5.6 प्रयोग

दोषप्रयोग — कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — क्षत, व्रण तथा शोथ में पुष्प एवं पत्र का लेप करते हैं। नाक से रक्त निकलने पर पत्रस्वरस का नस्य देते हैं। अन्य क्षतों से रक्तस्राव को रोकने के लिये भी इसका प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर—रक्तवहसंस्थान — रक्तविकार तथा रक्तपित्त में पुष्प या कल्क घी में तल कर देते हैं।

8.5.7 प्रयोज्य अंग — पुष्प, पत्र।

8.5.8 मात्रा — स्वरस 5-10 मि० ग्रा०

8.6 चिरायता

गुण — तिक्तस्कन्ध, स्तन्यशोधन, तृष्णानिग्रहण (च०) आरग्वधादि (सु०)

कुल — भूनिम्ब — कुल — जेन्शिएनेसी Gentianaceae)

8.6.1 नाम — लै०— स्वर्शिया चिरायता (*Swertia chirayita*)

सं०—किरात, किराततिक्त (वनों में होने वाला तिक्त द्रव्य), हि० चिरायता, बं०—चरैता, म०—किराइत, गु०—करियातं, ता०—नीलवेम्बु, ते०—नीलवेमु, मल०—नीलवेष्पा, अ०—कसबुजजीरा, फा०—नैनहाबंदी, अं०—चिरेटा (*Chiretta*)

8.6.2 स्वरूप — इसका वर्षार्यु क्षुप 2-4 फुट ऊँचा होता है। काण्ड—स्थूल नीचे गोलाकार तथा ऊपर की ओर चतुष्कोण होता है। पत्र— अभिमुख, 2-3 इंच लम्बे चौड़े, भालाकार नोकदार पांचसिरायुक्त, प्रायः अवृन्त होते हैं। नीचे की पत्तियां बड़ी और ऊपर की छोटी होती हैं। पुष्पमंजरी — अनेक शाखा—प्रशाखायुक्त होती है जिस पर हरित—पीत, बैंगनी आभायुक्त छोटे पुष्प आते हैं। फल—अंडाकार, 6 मि०मी० व्यास के नुकीले तथा बीज चिकने एवं बहुकोणीय होते हैं। वर्षा ऋतु में पुष्प आते हैं। फल पक्व होने पर इसका संग्रह करते हैं।

जाति — इसकी अनेक जातियां पाई जाती हैं जिनमें तिक्तता का भी अंतर होता है। इनमें *S. ciliata* (G. Don.) Burt, *S. paniculata* Wall; *S. lawii* Burkill. *S. alata* (D. Don.) Royle ex C. B. Clark प्रमुख हैं। वे किरात के प्रतिनिधि या अपद्रव्य के रूप में प्रचलित हैं। काण्ड के भीतर निरन्तर बड़े स्पंजी तन्तुसमूह, भूरे रंग तथा अतिरिक्त रस से असली चिरायता की पहचान की जा सकती है। भावप्रकाश ने इसी के अनुसार तिक्त और अर्धतिक्त ये दो भेद किये हैं। अर्धतिक्त प्रकार को मीठा चिरायता भी कहते हैं।

8.6.3 उत्पत्तिस्थान — यह हिमालयप्रदेश में कश्मीर से भूटान तक 4 हजार से 10 हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। नेपाल में विशेष होता है। व्यापार में चिरायता प्रायः वही से आता है। मध्यप्रदेश, दक्षिण भारत में भी होता है।

अपमिश्रण — चिरायता में उपर्युक्त प्रजातियों के अतिरिक्त तथा *S. angustifolia* तथा कालमेघ (*Rubia cordifolia*) और मजिष्ठा की मिलावट की जाती है।

8.6.4 रासायनिक संघटन — इससे 9 जैन्थेन निकाले गये हैं मैंगिफेरिन (Mangiferin) नामक ग्लुकोसाइड तथा जेन्शयनिन (Gentianine) नामक क्षाराभ भी होता है। के अनुसार चिरायता में तिक्त घटक 1-3 प्रतिशत से कम नहीं होना चाहिए। भस्म 4-6 प्रतिशत होती है।

8.6.5 गुण

गुण — लक्षु, रूक्ष **रस** — तिक्त

विपाक — कटु **वीर्य** — उष्ण

8.6.6 कर्म

दोषकर्म — तिक्त होने से कफ-पित्त तथा उष्णवीर्य होने से वात का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोशशामक है। विशेषतः कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — व्रणशोधन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — आक्षेपहर तथा निद्राजनन है।

पाचनसंस्थान — यह दीपन, तृष्णानिग्रहण, आमपाचन, पित्तसारक, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान — हृद्य, रक्तशोधन तथा शोधहर है।

श्वसनसंस्थान — कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान — स्तन्यशोधन है।

त्वचा — स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम — ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण — कटुपौष्टिक है।

8.6.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — त्रिदोषज विकारों में विशेषतः कफपैत्तिक रोगों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — इसके क्वाथ से व्रणों को धोते हैं।

पाचनसंस्थान — अग्निमांद्य अजीर्ण, तृष्णा, कामला, विबन्ध तथा कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान — हृदयदौर्बल्य, रक्तविकार तथा शोथ में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान — कास और श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान — स्तन्यविकार में देते हैं।

त्वचा — कुष्ठ, चर्मरोग में देते हैं।

तापक्रम — जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में चिरायता देते हैं। इससे ज्वर, दाह, यकृतप्लीहा आदि शांत होते हैं और रोगी का दौर्बल्य दूर होता है। ज्वर में चिरायते का काढ़ा अतिप्रसिद्ध है। दाह में भी देते हैं।

सात्मीकरण — अन्न ने पचने से जो दौर्बल्य होता है तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

8.6.8 प्रयोज्य अंग — पंचांग

8.6.9 मात्रा — क्वाथ 50-100 मि०लि०, चूर्ण 1-3 ग्राम।

8.6.10 विशिष्ट योग — सुदर्शन चूर्ण, किरातादि क्वाथ।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1— किराततित्त निम्न में से किसका पर्यायवाची है ?

प्रश्न 2— गेंदे का प्रयोज्यांग क्या है?

प्रश्न 3— निम्न में से किसका प्रयोग सुदर्शन चूर्ण में होता है ?

8.7 सारांश

इस इकाई में हमने जाना कि कैसे जौ के ज्वारे, गेहूं के ज्वारे, गेंदा और चिरायता का प्रयोग करके सामान्य से लेकर कैंसर जैसे गम्भीर रोगों में लाभ ले सकते हैं। चिरायता मधुमेह, ज्वर आदि की कठिन अवस्थाओं में भी प्रयुक्त होता है। गेहूं, जौ, गेंदा से तो सभी परिचित रहे होंगे पर इस इकाई से आपको इनके औषधीय गुणों की जानकारी मिली होगी। चिरायता के उत्पत्ति स्थान स्वरूप, प्रयोग विधि की जानकारी से आप निश्चय ही लाभान्वित होंगे।

8.8 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अं०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।
च०—चरकसंहिता, अ०सं०—अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०—अष्टांगहृदय, चक्र०—चक्रदत्त, आ०वि०—आयुर्वेदविज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश, भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता, सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला, यो०र०—योगरत्नाकर।

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क.. चिरायता,
2. पत्र, पुष्प,
- 3 .. क. चिरायता

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

8.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. गेंदे के औषधीय गुण विस्तार से बताइये।
2. चिरायता का प्राप्तिस्थान, स्वरूप व औषधीय उपयोग बताइये।

इकाई—9— अश्वगंधा, शतावर, वासा, पत्थरचटा

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 अश्वगन्धा

9.3.1 नाम 9.3.2 स्वरूप 9.3.3 उत्पत्तिस्थान — 9.3.4 रासायनिक संघटन — 9.3.5 गुण

9.3.6 कर्म 9.3.7 प्रयोग 9.3.8 प्रयोज्य अंग 9.3.9 मात्रा 9.3.10 विशिष्ट योग

9.4 शतावर

9.4.1 नाम— 9.4.2 स्वरूप एवं परिचय 9.4.3 उत्पत्ति स्थान 9.4.4 गुण—कर्म

9.4.5 विशेष उपयोग 9.4.6 प्रयोज्य अंग— कंद। 9.4.7 मात्रा— 9.4.8 विशिष्ट योग

9.5 वासा

9.5.1 नाम 9.5.2 स्वरूप 9.5.3 उत्पत्तिस्थान 9.5.4 रासायनिक संघटन 9.5.5 गुण

9.5.6 कर्म 9.5.7 प्रयोग 9.5.8 प्रयोज्य अंग 9.5.9 मात्रा 9.5.10 विशिष्ट योग

9.6 पत्थरचटा/पाषाणभेद

9.6.1 नाम 9.6.2 उत्पत्ति स्थान 9.6.3 गुण—कर्म 9.6.4 प्रयोग 9.6.5 प्रयोज्य अंग 9.6.6 मात्रा

9.6.7 विशिष्ट योग— पाषाणभेदादि चूर्ण, पाषाणभेदादि क्वाथ, पाषाणभेदादि घृत।

9.7 सारांश

9.8 शब्दावली

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.11 निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम औषधीय गुणों से युक्त अश्वगंधा, शतावर, वासा, पत्थरचटा का अध्ययन करेंगे। अश्वगंधा व शतावर शरीर को बल प्रदान करने वाले द्रव्य हैं। इन्हें कोई स्वस्थ व्यक्ति भी बलवर्द्धन के लिए सेवन कर सकता है। बीमारी की अवस्था में जब शरीर कमजोर होता है तब ये अतीव लाभ देते हैं। वासा कास की अवस्थाओं में काम आने वाली एक बहुत ही अच्छी औषध है तो पत्थरचटा मूत्राशमरी की विशेष औषध है। ये सभी पौधे छोटे आकार के होते हैं।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम बलवर्द्धक अश्वगंधा, शतावर, कासहर वासा तथा मूत्रविकारों में काम आने वाले पत्थरचटा के स्वरूप, प्राप्ति स्थान, प्रयोज्यांग, प्रयुक्त मात्रा आदि के बारे में जानेंगे। इसके अध्ययन से हम विभिन्न रोगों में इन द्रव्यों के प्रयोग की विधि जान सकेंगे।

9.3 अश्वगन्धा

गण — बल्य, बृंहणीय, मधुरस्कन्ध (च)

कुल — कण्टकारी — कुल — सोलेनेसी Solanacea)।

9.3.1 नाम — लै०—विथैनिया सॉमनिफरा (Withania somnifera)

सं०—अश्वगंधा, वराहकर्णी, हि०—असगंध, बं०—अश्वगंधा, म०—आसंध, डोरगुंज, गु०—आसंध, घोडा आहन, घोडा आकुन, ता०—आमकुलांग, ते०—पनेरू, कन्न०—अश्वगंधी।

9.3.2 स्वरूप — इसका झाड़ीदार रोमश क्षुप 1-5 फुट ऊँचा होता है। शाखायें गोलाकार, चारों ओर फैली रहती हैं। पत्र एकान्तर, 2-4 इंच लंबे, लट्वाकार, श्वेतरोमश होते हैं। पुष्पों के पास पत्ते छोटे एवं अभिमूर्ख होते हैं। पुष्प पत्रकोणोद्भूत, पीताभ हरित, चिलम के आकार के गुच्छों में रहते हैं। फल .25-3 इंच व्यास के गोलाकार, रसभरी के सदृश कवच के भीतर तथा पकने पर लाल हो जाते हैं। बीज छोटे, पीले वृक्काकार, चिकने और चपटे होते हैं। मूल ऊपर से धूसर भीतर श्वेत दृढ़, अंगुलिसदृश मोटे तथा लंबे होते हैं। कच्चे मूल से अश्व के सदृश गंध आती है इसलिये इसे 'अश्वगंधा' कहते हैं। (इसके सेवन से अश्व के समान उत्साह प्राप्त होता है इसलिए भी इसका नाम सार्थक है) शरदऋतु में पुष्प तथा बाद में फल आते हैं। बरसात में इसके बीज बोय जाते हैं तथा जाड़े में फसल निकाल ली जाती है।

जाति — यह देशभेद से पांच प्रकार की होती है। भूमि तथा जलवायु के अंतर से इसके स्वरूप में अंतर आ जाता है।

9.3.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत में पश्चिमोत्तर भारत, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा पंजाब और हिमालय में 5000 फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। मध्यप्रदेश के मन्दसोर जिले की मनासा तहसील में इसकी सर्वाधिक खेती की जाती है। जहाँ से प्रायः इसकी व्यापारिक आपूर्ति होती है।

9.3.4 रासायनिक संघटन — इसके मूल से Cuseohygrine, anahygrine, tropine, anaferine आदि 13 क्षाराभ निकाले गये हैं। कुल क्षाराभ 0.13-0.31 प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त, ग्लाइकोसाइड, विठानिआल, अम्ल, स्टार्च, शर्करा तथा एमिनो एसिड पाये जाते हैं।

9.3.5 गुण

गुण — लघु, स्निग्ध **रस** — तिक्त, कटु, मधुर

विपाक — मधुर **वीर्य** — उष्ण

9.3.6 कर्म

दोषकर्म — यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — यह मस्तिष्कशामक है।

पाचनसंस्थान — यह दीपन, अनुलोमन, शूलप्रशमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान — यह रक्तभारशामक, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान — कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान — वाजीकरण तथा गर्भाशयशोथहर तथा योनिशूलहर है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्रल है।

त्वचा — कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण — बल्य, बंहण, रसायन है।

9.3.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — गलगण्ड, ग्रंथिशोथ आदि में इसके पत्र या मूल का लेप करते हैं। इसके मूल से सिद्ध तेल का अभ्यंग दौर्बल्य और वातव्याधि में करते हैं।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — मूर्च्छा, भ्रम, अनिद्रा आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान — उदरविकार तथा कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान — रक्तभाराधिक्य, रक्तविकार एवं शोथ में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान — कास—श्वास में देते हैं। श्वास में अश्वगंध का क्षार मधु एवं घृत के साथ देने का विधान है।

प्रजननसंस्थान — शुक्रदौर्बल्य तथा प्रदर एवं योनिशूल में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्राघात में प्रयुक्त होता है।

त्वचा — कुष्ठ आदि में देते हैं।

सात्मीकरण — क्षय, शोथ, विशेषतः बालशोष में यह अधिक लाभकर है।

9.3.8 प्रयोज्य अंग — मूल।

9.3.9 मात्रा — चूर्ण 3-6 ग्राम, क्षार 1-2 ग्राम।

9.3.10 विशिष्ट योग — अश्वगंधादि चूर्ण, अश्वगंधारसायन, अश्वगंधाघृत, अश्वगंधारिष्ट।

9.4 शतावर

कुल— रसोन कुल लिलिएसी (Liliaceae) .

9.4.1 नाम— लै०— एस्पेरेगस रेसीमोसस (Asparagus racemosus)] सं०— शतावरी, शतमूली, शतवीर्या, बहुमुता, अतिरसा, हि०— सतावर, बं०— शतमूली, म०गु०— शतावरी, ता०— सडावरी।

9.4.2 स्वरूप एवं परिचय— इसकी कंटकयुक्त झाड़ीदार आरोहिणी लता होती है। पत्र भासकांड 0.5 स 1 इंच लंबे, 2 से 6 एक साथ गुच्छों में तथा हौंसिया के आकार के नीचे की ओर नलिकायुक्त होते हैं। पुष्पमंजरी 1-2 इंच एकल या गुच्छबद्ध, सरल या शाखायुक्त होती है। फल मटर के आकार के 1/6-1/4 इंच व्यास के पकने पर लाल रंग के होते हैं जिनमें 1-2 बीज होते हैं। मूल स्तंभ से स्थूल लंबगोल, दोनों सिरों पर नुकीले श्वेत मूलों का गुच्छा निकलता है। ग्रीष्म ऋतु में प्रायः इसका ऊपरी भाग नष्ट हो जाता है।

9.4.3 उत्पत्ति स्थान — यह समस्त भारत में तथा हिमालय मsa 4000 फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

9.4.4 गुण-कर्म— गुण— गुरू, स्निग्ध रस— मधुर, तिक्त विपाक— मधुर वीर्य— ऊष्ण

दोषकर्म— यह वात-पित्त नाशक है। बल्य, वेदनास्थापक, नाड़ी बलदायक, शूलहर, ग्राही, रक्तभारशामक, गर्भपोषण, स्तन्यजन्य रसायन है। क्षय रोग एवं दौर्बल्य में उपयोगी है तथा दृष्टिमांद्य में इसका सेवन करते हैं।

9.4.5 विशेष उपयोग— महर्षि चरक के अनुसार शतावरी अवस्था स्थापक, वृद्धावस्था में रक्षा करने वाली और वीर्यवर्धक होती है।

अपस्मार— शतावरी का स्वरस 4-4 तो०— अथवा दिन में २ बार सेवन करने से तथा पथ्य में दूध-भात मात्रा खाने से 21 दिन में अपस्मार नष्ट होता है।

शतावरी सेवन से वात धातु और वात नाड़ियाँ सबल होने से समस्त वातरोग, अर्दित, मन्या स्तंभ, स्वरभेद, जिह्वा स्तंभ, हनुग्रह, बाहुपीड़ा, खंजवात, कटिवात, आमवात, गृध्रसी, उरुस्तंभ, संधिवात, अपस्मार, हिस्टीरिया और वातरक्त आदि में लाभ पहुँचाता है।

9.4.6 प्रयोज्य अंग— कंद।

9.4.7 मात्रा— 10 ls 20 मि०ली० स्वरस, क्वाथ 50 से 100 मि०लि०, चूर्ण 3 से 6 ग्राम।

9.4.8 विशिष्ट योग —नारायण तैल, शतमूल्यादि लौह, शतावरीधृत, शतावरीधृत।

9.5 वासा

कुल — वासा — कुल — एकैन्थेसी— Acanthaceae)।

9.5.1 नाम — लै० अघाटोडा वासिका (Adhatoda vasica Nees)।

सं०—वासा, वासक, वासिका (वासयति आच्छादयति—जो सघन होने के कारण प्रदेश को अच्छादित कर ले), सिंहास्य (सिंह—मुख के सदृश पुष्प वाला), वाजिदन्त (घोड़े के दांत के सदृश श्वेत पुष्प वाला), वृष (वर्षति मधु—इसके पुष्पों में अधिक मधु होता है) आटूरूषक, हि०—वाकस, अडूषा, बं० वाकस, पं०वांसा, म० अडुलसा, गु० अरडुसो, ता० एधाडड, ते०आदासरा, अं० मलाबार नट (Malabar Nut)।

9.5.2 स्वरूप — इसक झाड़ीदार, समूहजात क्षुप 4-8 फुट ऊँचा होता है। पत्र 3-8 इंच लम्बे, रोमश, दुर्गन्धयुक्त, अंडाकार,भालाकार दोनों छोर पर संकीर्ण लंबाग्र होते हैं। पत्रवृन्त — लंबा होता है। पुष्प — श्वेतवर्ण, बड़े 1-3 इंच लंबे, द्वि-ओष्ठी प्रशाखाग्रों के शीर्ष भाग पर स्थित 1-3 इंच लंबी मंजरियों में लगे होते हैं। प्रायः एक साथ अनेक मंजरिया निकलती हैं। वृन्तपत्रक — लट्टाकार या अंडाकार तथा कोणपुष्पक व लंबे होते हैं। बर्हिदल लंबे पच्चखण्डी, खण्ड सम, भालाकार, अर्न्तदल—नलिका का मूलभाग छोटा, उसके बाद फूला हुआ, मध्यभाग में आड़ी गुलाबी या पीली रेखायें दलौष्ठ लगभग लंबे होते हैं। पुंकेसर मूलभाग में रोमश होते हैं। फली लंबी, रोमश, मुद्गराकार होती है जिसमें 4 बीज होते हैं। बीज छोटे, चिकने, ग्रंथिमय, सिकुड़नयुक्त होते हैं। पुष्प फरवरी—मार्च में आते हैं।

जाति — कृष्णवासा के नाम से *justicia gendarussa* Linn. F. नामक पौधा बंगाल में प्रचलित है। इसी प्रकार *Adhatoda beddomei* Clarke केरल में प्रचलित है। ये सामान्य वासा से अधिक गुणकारी माने जाते हैं।

9.5.3 उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में 4000 फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

9.5.4 रासायनिक संघटन — इसमें गंधयुक्त उड़नशील तेल, वसा, राल एक तिक्त क्षाराभ 'वासिकिन', एक कार्बनिक अम्ल 'अधोटोडिक अम्ल', शर्करा, गोंद, रजक द्रव्य और लवण पाये जाते हैं। पत्तियों से एक पीला रंग भी निकाला जाता है। वासिकिन नामक क्षाराभ की मात्रा त्वक् में 0.35 प्रतिशत तथा पत्तियों में 0.2-0.4 प्रतिशत तक होती है। वासा की औषधीय क्रिया मुख्यतः वासिकिन तथा सुगंधित तेल के कारण होती है।

9.5.5 गुण गुण — रूक्ष, लघु **रस** — तिक्त, कषाय **विपाक** — कटु **वीर्य** — शीत

9.5.6 कर्म

दोषकर्म — यह लघु, रूक्ष तथा तिक्त-कषाय होने से कफ का एवं शीत तथा तिक्त-कषाय होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य — इसकी पत्तियों का लेप शोथहर, वेदनास्थापन, जन्तुघ्न तथा कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान — यह प्राणदा नाडी को अवसादित करता है।

पाचनसंस्थान — कषाय और शीत होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृद्य है। अधिक मात्रा में देने पर हृत्पेशी एवं उसकी नाडी को अवसादित करने के कारण रक्तभार को कुछ कम करता है यह रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन भी है क्योंकि छोटी रक्तवाहिनियों को संकुचित करता है।

श्वसनसंस्थान — इस संस्थान पर इसकी मुख्य क्रिया होती है। यह कफ को पतला कर बाहर निकालता है तथा श्वसननलिकाओं का प्रसार करता है। यह प्रसार कम किन्तु स्थायी होता है। इस प्रकार यह श्लेष्महर, कासहर, कण्ठभ एवं श्वासहर है। इसकी क्रिया बहुत कुछ इपीकैकुओना के सदृश होती है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्रप्रजनन है।

त्वचा — यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम — यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — यह धात्वग्नियों को उदीप्त कर धातुनिर्माण-क्रिया को ठीक करता है। जिससे क्षय दूर होता है।

9.5.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — इसका प्रयोग कफपित्तविकारों में प्रयुक्त करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य — आमवात, व्रणशोथ तथा नाडीशूल में इसके कल्क का प्रलेप करते हैं। चर्मरोगों में इसके पत्र का लेप करते हैं। अपतंत्रक, अपस्मार आदि में इससे सिद्ध तेल का अभ्यंग करते हैं। इसका पत्रस्वरस बाह्य कृमियों को मारने के लिये भी प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान — यह स्तम्भन होने से अतिसार एवं प्रवाहिका विशेषतः रक्तज में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृदोग, रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर, रक्तनिष्ठौवन तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान — यह कास, श्वास एवं यक्ष्मा में अतीव उपयोगी है। इससे कफ पतला होकर आसानी से बाहर निकलता है। कास का जो निरन्तर वेग आता रहता है वह कम होता है, श्वासनलिकाओं का प्रसार होकर दम फूलना कम हो जाता है और यदि कफ के साथ खांसी के बाद मुंह से रक्त आता हो तो वह भी बंद हो जाता है। इसके अतिरिक्त क्षय, ज्वर आदि भी दूर होता है। पत्तियों के चूर्ण में थोड़ी धतूरे की पत्ती मिलाकर धूम्रपान करने से श्वास का वेग शांत हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान — इसके पुष्पम मूत्रकृच्छ्र मूत्रदाह एवं पैत्तिक प्रमेह में प्रयुक्त होते हैं।

त्वचा — कुष्ठ आदि चर्मविकारों में इसका सेवन कराते हैं।

तापक्रम — इसका प्रयोग ज्वर में करते हैं।

सात्मीकरण — यह क्षयरोग में प्रयुक्त होता है।

9.5.8 प्रयोज्य अंग — मूत्र, पत्र एवं पुष्प।

9.5.9 मात्रा — पत्र स्वरस 10-20 मि०लि०, पुष्प स्वरस 10-20 मि०लि०, मूल क्वाथ 40-80 मि०लि०।

9.5.10 विशिष्ट योग — वासावलेह, वासारिष्ट, वासापानक, वासाचन्दनानि तेल।

9.6 पत्थरचटा/पाषाणभेद

कुल— पाषाणभेद कुल सैक्सिफ्रॅगासी (Sexifragaceae)

9.6.1 नाम— लै०— बर्जिनिया लिग्युलेटा (Bergenia ligulata)] सं०— पाषाणभेद, अश्मघ्न, हि०— पखान भेद, सिलफड़ा, पथरचूर, म०—पखानभेद, गु०—पखानभेद, क०—पहाड़।

स्वरूप एवं परिचय— पहाड़ों की चट्टानों पर यह क्षुप फैलता है। दरारों में इसका कांड बाहर निकलता है। मूल 1-2 इंच लंबा, मोटा और लाल रंग का होता है। पत्र गोलाकार होते हैं। ऊपरी पृष्ठ हरा और नीचे का रक्ताभ होता है। ये मांसल और दंतूर होते हैं। पत्तों का व्यास 5 ls 10 इंच तक रहता है। 3-4 पत्तियां एक साथ उगती हैं। पुष्प सफेद, गुलाबी रंग के होते हैं। अप्रैल—मई में पुष्प खिलते हैं।

जाति— बी स्ट्रायेची (B. Stracheyi)

9.6.2 उत्पत्ति स्थान— हिमालय के समशीतोष्ण प्रदेशों में 7 ls 10 हजार फीट की ऊँचाई पर प्राप्त होते हैं। उत्तराखण्ड, कश्मीर, भूटान, सिक्किम आदि के पर्वतीय पथरीली जमीन पर सर्वत्र पाया जाता है।

9.6.3 गुण—कर्म— गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण रस— कषाय, तिक्त विपाक— कटु वीर्य— शीत

त्रिदोष शामक, शोथहर, व्रणरोपण, स्तंभन, हृद्य, कफ निःसारक, अश्मरीभेदन, मूत्रल, ज्वरघ्न, विषघ्न।

9.6.4 प्रयोग— व्रणशोथ तथा नेत्राभिष्यंद में स्थानिक लेप के रूप में लगाते हैं। मधु के साथ मिलाकर बच्चों के दाँत निकलने के समय इसे लगाते हैं। अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र में यह अतीव उपयोगी है। योनिव्यापद् (श्वेत एवं रक्तप्रदर तथा कष्टार्तव) में देते हैं। अतिसार, प्रवाहिका, अर्श में प्रयुक्त होता है।

9.6.5 प्रयोज्य अंग— मूल।

9.6.6 मात्रा— चूर्ण 3 सS 6 ग्राम, क्वाथ 50 सS 100 मि०लि०।

9.6.7 विशिष्ट योग— पाषाणभेदादि चूर्ण, पाषाणभेदादि क्वाथ, पाषाणभेदादि घृत।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1— अश्वगंधा का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 2— शतावर का प्रयोज्यांग क्या है?

प्रश्न 3— वासा के पत्र स्वरस की सामान्यतः कितनी मात्रा प्रयोग की जानी चाहिए ?

प्रश्न 4— पाषाणभेद निम्न में से किसका पर्याय है ?

9.7 सारांश

इस इकाई में हमने जाना कि अश्वगंधा, शतावर, वासा व पत्थरचटा को विभिन्न क्षेत्रों में किन नामों से जाना जाता है। इनके स्वरूप व उत्पत्ति के बारे में जाना। इन जानकारियों के आधार पर हम चाहें तो इनकी व्यावसायिक खेती भी कर सकते हैं, या किसानों को इसके लिए प्रेरित कर सकते हैं। इनके औषधीय प्रयोग को जानकर आप इनके प्रयोग से बीमारियों को दूर कर सकते हैं।

9.8 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अ०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती। च०—चरकसंहिता, अ०सं०—अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०—अष्टांगहृदय, चक्र०—चक्रदत्त, आ०वि०—आयुर्वेदविज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश, भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता, सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला, यो०र०—योगरत्नाकर।

9.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 Withania somnifera 2. कंद 3. 10 – 20 मि०लि० 4. क. पत्थरचटा

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ :-

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसतरंगमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टांगसंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginous Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India(Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

9.11 निबंधात्मक प्रश्न :-

1. वासा की उत्पत्ति, स्वरूप का वर्णन करते हुए औषधीय गुण विस्तार से बताइये।
2. पत्थरचटा का प्राप्तिस्थान, स्वरूप व औषधीय उपयोग बताइये।

इकाई – 10 — हरड़, बहेड़ा, आंवला, अशोक

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 हरड़

10.3.1 स्वरूप एवं परिचय 10.3.2 उत्पत्ति स्थान 10.3.3 गुण—कर्म 10.3.4 प्रयोज्य अंग— फल 10.3.5 मात्रा 10.3.6 विशिष्ट योग

10.4 बहेड़ा

10.4.1 नाम 10.4.2 स्वरूप 10.4.3 उत्पत्तिस्थान 10.4.4 रासायनिक संघटन 10.4.5 गुण 10.4.6 कर्म 10.4.7 प्रयोग 10.4.8 प्रयोज्य अंग 10.4.9 मात्रा 10.4.10 विशिष्ट योग

10.5 आंवला

10.5.1 नाम 10.5.2 स्वरूप 10.5.3 उत्पत्तिस्थान 10.5.4 रासायनिक संघटन 10.5.5 गुण 10.5.6 कर्म 10.5.7 प्रयोग 10.5.8 प्रयोज्य अंग 10.5.9 मात्रा 10.5.10 विशिष्ट योग

10.6 अशोक

10.6.1 नाम 10.6.2 उत्पत्ति स्थान 10.6.3 गुण—कर्म 10.6.4 प्रयोज्यअंग 10.6.5 मात्रा 10.6.6 विशिष्ट योग

10.7 सारांश

10.8 शब्दावली

10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

इस इकाई में वर्णित हरड़, अशोक, आंवला, बहेड़ा चारों बड़े आकार के वृक्ष होते हैं। इन सभी का आयुर्वेदिक औषधियों में बहुतायत में उपयोग होता है। हरड़, बहेड़ा, आंवला आयुर्वेद की एक प्रचलित औषधि त्रिफला के मुख्य घटक हैं। यदि हम कहीं ऐसे स्थान पर हैं जहां अन्य औषधियां उपलब्ध नहीं हो सकती वहां हम युक्तिपूर्वक इन चार औषधियों का अनुपान भेद से प्रयोग करके विभिन्न रोग ठीक कर सकते हैं। वैसे तो इन चारों औषधियों के वृक्ष वन क्षेत्रों में पाये जाते हैं पर आजल बढ़ती मांग के कारण कुछ क्षेत्रों में इनकी व्यावसायिक खेती भी की जा रही है।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम हरड़, अशोक, आंवला, बहेड़ा के स्वरूप, उत्पत्ति स्थान, प्रयोज्यांग, प्रयुक्त मात्रा आदि के बारे में जानेंगे। हम जानेंगे कि किस बीमारी में इनका किस प्रकार कितनी मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

10.3 हरड़

गण— रिचनोपग, रसायन, त्रिफला

कुल— कॉम्ब्रेटेसी — (Combretaceae)।

10.3.1 नाम — लैटिन—टर्मिनेलिया चेबुला (*Terminalia chebula*)

संस्कृत—अभया, चेतकी, पथ्या, पूतना, हिन्दी— हरड़, मराठी— हिरडा, पंजाबी— हड़हरड़, बंगला— हरितकी, तेलुगु— करकाय, फारसी— हलैलाह।

कुल— हरीतकी कुल काम्ब्रेटेसी (*Combretaceae*).

10.3.1 स्वरूप एवं परिचय— यह वृक्ष जाति की वनस्पति है। वृक्ष 50 से 80 फुट ऊँचा होता है। छाल रंग में गहरी भूरी और लंबाई में अक्सर फटी हुई होती है। पत्र 3 से 8 इंच लंबे, 2 से 4 इंच चौड़े, लट्वाकार या अंडाकार होते हैं। पत्रवृंत के ऊपर वाले हिस्से में दो बड़ी ग्रंथियाँ होती हैं। पत्रों पर 6 से 8 जोड़ी शिराएँ होती हैं। पुष्प छोटे, पीली आभा लिए सफेद रंग के होते हैं। फल अंडाकार, लंबाई दो इंच तक, कठोर होता है। इसके पृष्ठ पर पाँच रेखाएँ होती हैं। कच्चे फल रंग में हरे और पकने पर पीताभ धूसर हो जाते हैं। अप्रैल—मई में नए पत्र और पुष्प आते हैं। शीतकाल में फल लगते हैं। जनवरी से अप्रैल तक पके फलों का संग्रह किया जाता है।

जाति— इसकी प्रमुख जातियाँ निम्नलिखित हैं—

- (1) विजया— अलाबुवृत्त स्वरूप, सर्व रोगों में प्रयुक्त होते हैं, विन्ध्य में प्राप्त होती है।
- (2) रोहिणी— वृत्त स्वरूप, व्रण में उपयोगी, पैठन में प्राप्त होता है।
- (3) पूतना— सूक्ष्म अस्थिमय स्वरूप, प्रलेप के रूप में प्रयोग करते हैं, सिंध से उत्पन्न होती है।
- (4) अमृता— मांसल स्वरूप, शोधन के लिए प्रयोग, चंपा (भागलपुर) में प्राप्त होती है।
- (5) अभया— पंचरेखायुक्त स्वरूप, नेत्र रोगों में प्रयोग, चंपा (भागलपुर) में उपलब्ध।
- (6) जीवन्ती— स्वर्णवर्ण, सर्वरोगों में प्रयुक्त, सौराष्ट्र में उत्पत्ति।
- (7) चेतकी— त्रिरेखायुक्त स्वरूप, रेचन के लिए प्रयोग, हिमाचल प्रदेश में उत्पत्ति। यह दो प्रकार की होती है— (अ) श्वेत, (ब) कृष्ण। श्वेत चेतकी छः अंगुल लंबी तथा कृष्ण चेतकी एक अंगुल लंबी होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से भेद— (1) छोटी हर्रे (हली—स्याह), (2) पीली हर्रे (हलील—जर्द), (3) बड़ी हर्रे (हलील—काबुली)।

ये तीनों वर्ग अवस्था भेद से किए जाते हैं। कच्चे कोमल फल जो स्वयं गिर जाते हैं या तोड़कर सुखा लिए जाते हैं, वे छोटी हर्रे कहलाती हैं। गुठली होने के बाद प्रौढ़ावस्था में अर्द्धपक्व फल लिए जाते हैं, वे पीली हर्रे कहलाती हैं और परिपक्व फल बड़ी हर्रे कहलाती हैं।

10.3.2 उत्पत्ति स्थान— पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, अवध, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, दक्षिणी भारत, मुंबई, चेन्नई और मैसूर के वनों में, भारत के पर्वतीय प्रदेशों में 5000 फीट की ऊँचाई तक, सीलोन, ब्रह्मप्रदेश, मलाया।

10.3.3 गुण—कर्म— गुण— लघु, रूक्ष रस— पंचरस (लवण वर्जित), कषाय प्रधान विपाक— मधुर वीर्य— उष्ण, प्रभाव— त्रिदोषहर

त्रिदोषहर (विशेषतः वातशामक), शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपण, नाडीबल्य, मेध्य, चक्षुष्य, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, अनुलोमन, मृदुरेचन, कृमिघ्न, हृद्य, शोणितास्थापन, शोथहर, कफघ्न, वृष्य, गर्भाशय शोथहर, प्रजास्थापन, मूत्रल, कृष्ठघ्न, ज्वरघ्न, रसायन।

ऋतु हरीतकी— रसायन कर्म के लिए ऋतु अनुसार अनुपान देकर इसका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है—

(1) वर्षा—सैधव, (2) शरद—शर्करा, (3) हेमंत—शुंठी, (4) शिशिर—पिप्पली, (5) बसंत—मधु, (6) ग्रीष्म—गुड़।

खूनी बवासीर में हरीतकी क्वाथ बनाकर दिया जाता है। अर्श की सूजन को उतारने और उसकी वेदना को दूर करने के लिए इसको पानी में पीसकर लेप करते हैं। किसी भी स्थान में होने वाले रक्तस्राव को रोकने में हरड़ उत्तम है। नाखून कृष्ण और बेडोल हों और दबाने से पीड़ा होती हो तो लोहे के पात्र में बड़ी हरड़ को हल्दी के पानी के साथ घिसकर नखों पर लेप लगाएँ। ठीक होने तक प्रतिदिन लेप बदलते रहें। ग्रहणी रोग में उबालकर देते हैं। अग्निमांद्य में मुंह में रखकर चबाते हैं, विबंध में चूर्ण खाते हैं, ग्रहणी में उबालकर लेते हैं तथा त्रिदोषजन विकारों में भूनकर सेवन करते हैं।

10.3.4 प्रयोज्य अंग— फल।

10.3.5 मात्रा— 3 से 6 ग्राम।

10.3.6 विशिष्ट योग— अभयामोदक, अभयारिष्ट, पथ्यादिवटी, पथ्यादिक्वाथ, व्याघ्री हरीतकी, चित्रकहरीतकी, अगस्तिहरीतकी, हरीतकी खंड, पथ्यादि चूर्ण, दंती हरीतकी।

10.4 बहेड़ा

गण — ज्वरहर, विरेचनोपग, (च०), त्रिफला, मुस्तादि (सु०)

कुल — कॉम्ब्रेटेसी — (Combretaceae)।

10.4.1 नाम — लै० टर्मिनेलिया बेलरिका (Terminalia bellirica)।

सं०—विभितक, (विगतं रोगभयस्मात्—विभयति रोगा अस्मात् इति वा—जिसके सेवन से रागों का भय जाता रहे।), कर्षफल (इसका फल 1 कर्ष 20 ग्राम वजन का होता है), अक्ष (इसके बीज जुआ खेलने में प्रयुक्त होते थे), कलिद्रुम (जुआ में प्रयुक्त होने के कारण ही इसे कलह वृक्ष कहते हैं) हि० म० गु० — बहेड़ा, बं०—बयड़ा, ता०—अक्कम्, ते०—ताडि, अ०—बलीलज, फा०—बलील, अं०—मिरोबेलन (Bellirica Myrobalan)।

10.4.2 स्वरूप — इसका वृक्ष लगभग 60-80 फीट ऊँचा होता है। काण्ड सीधा, लम्बा, काण्डत्वक् गाढे भूरे रंग की तथा काण्डसार कठिन होता है। पत्र 3-8 इंच लम्बे, एकान्तर, चौड़े, अण्डाकार अभिलट्टाकार, प्रशाखाओं के अग्रभा पर समूहबद्ध रहते हैं। पत्रवन्त लम्बा होता है। पुष्प सफेद या पीताभ 3-6 इंच लम्बी मंजरियों में होते हैं। ऊपर के पुष्प पुल्लिंग तथा नीचे के उभयलिंगी होते हैं। फल धूसरवर्ण, रोमश, गोलाकार, पीछे की ओर अचानक संकरा जहां वृन्त लगा रहता है, सूखने पर धारीदार या हलका पंचकोणीय दिखता है। फल के भीतर एक बीज होता है। फरवरी मार्च में इसके पत्ते झड़कर नये ताम्रवर्ण पल्लव निकलते हैं। उसी के साथ मई तक पुष्प निकलते रहते

हैं। बसन्त में पुष्पित होने से यह 'वासन्त' भी कहा जाता है। अगले जनवरी-फरवरी तक फल पक जाते हैं।

फल की मींगी खाई जाती है। किन्तु अधिक खाने पर चक्कर आने लगता है अतः विभीतकमज्जा मकदृत् कही गयी है।

10.4.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है विशेषकर निचले पार्वत्य प्रदेशों में अधिक होता है।

10.4.4 रासायनिक संघटन — फल में टैनिन 21.4 प्रतिशत, बी-सिटोस्टेरॉल, गैलिक एसिड, इलैगिक एसिड, एथिल ग्रैलेट मैनिटोल, ग्लुकोज, गैलेक्टोज, फ्रेक्टोज, रैमनोज होते हैं। बीजमज्जा से 38.6 प्रतिशत चमकीले पीले रंग का स्थिर तेल निकलता है। इसकी छाल में 1.4-7 प्रतिशत टैनिन होता है।

10.4.5 गुण

गुण — रूक्ष, लघु **रस** — कषाय

विपाक — मधुर **वीर्य** — उष्ण

10.4.6 कर्म

दोषकर्म — यह रूक्ष लघु, कषाय होने से कफ का कषाय-मधुर होने से पित्त का तथा उष्ण होने से बात का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है किन्तु विशेष कर्म कफ पर होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य — यह शोथहर, वेदनास्थापन, रक्तस्तम्भन एवं कृष्णीकरण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान — इसकी मज्जा मादक और वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान — यह उष्ण होने के कारण दीपन, अनुलोमन एवं कृमिघ्न है। इसका अर्धपक्व फल रेचन और पक्व-शुष्क फल ग्राही है। यह तृष्णानिग्रहण और छर्दिनिग्रहण भी है।

रक्तवहसंस्थान — यह कषाय होने से रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान — यह श्वासनलिकाओं के शोथ को दूर करता है और कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान — इसकी मज्जा बाजीकरण है।

तापक्रम — यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — इसका कर्म विशेष रूप से रस, रक्त, मांस और मेद धातुओं पर होता है। मधुरविपाक होने से यह धातुवर्धक है।

नेत्र — चक्षुष्य है।

10.4.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — इसका प्रयोग त्रिदोषजन्य विकारों में होता है किन्तु कफप्रधान विकारों में यह विशेष उपयोगी है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य — शोथ-वेदनायुक्त विकारों में इसके फल का लेप करते हैं तथा इसके बीजों का तेल लगाते हैं। तेल का प्रयोग चर्मरोग, अग्निमांद्य, तथा पालित्य में करते हैं। इसके फल का टुकड़ा भूनकर प्रतिश्याय, कास श्वास तथा स्वरभंग में मुख में रख कर चूसते हैं। इससे कफ आसानी से निकल जाता है। सद्योत्रण में इसका चूर्ण देने से रक्त रूक जाता है। अभिष्यन्द में इसका लेप नेत्र पर करते हैं।

आभ्यन्तर — नाडीसंस्थान — वातव्याधि, अनिद्रा आदि में इसकी मज्जा का प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान — यह अग्निमांद्य, आध्मान, तृष्णा, छर्दि, अर्श एवं कृमिरोग में प्रयुक्त होता है। इसका अर्धपक्व फल विबन्ध में तथा शुष्क फल अतिसार प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान — यह आभ्यन्तर रक्तस्राव को रोकता है, विशेषकर रक्त निष्ठीवन में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान — यह प्रतिश्याय, कास, श्वास, स्वरभेद में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान — इसका एक बीज प्रतिदिन सेवन करने से क्लैव्य रोग में लाभ होता और कामोत्तेजना बढ़ती है।

तापक्रम — ज्वर में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण — यह सामान्यदौर्बल्य में विशेषतः रस, रक्त मांस और मेद के विकारों में प्रयुक्त होता है।

नेत्र — यह अनेक नेत्ररोगों में व्यवहृत है।

10.4.8 प्रयोज्य अंग — फल।

10.4.9 मात्रा — चूर्ण 3-6 ग्राम।

10.4.10 विशिष्ट योग — विभीतक तेल, त्रिफलाचूर्ण, फलत्रिकादि, क्वाथ, तालीशादि चूर्ण, लवंगादि वटी।

10.5 आंवला

गण — वयःस्थापन, विरेचनोपग (च०); त्रिफला, परूषकादि (सु०)

कुल — एरण्ड कुल (युफॉर्बिएसी — Euphorbiaceae)।

10.5.1 नाम — लै० एम्ब्लिका ऑफिसिनेलिस (Emblica officinalis Gaertn.)।

सं० आमलकी, धात्री, हि० आंवला, ब० आमलकी, आमला, म०, गु० आंवला, ता० नेल्लिकाई, ते० उशीरिकाई, कन्न० मल० नेल्लि, फा० आम्लज, आमल, अं० एम्ब्लिक मिरोबेलन (Emblic-myrobalan)।

10.5.2 स्वरूप — इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का 20-25 फुट ऊँचा होता है। काण्डत्वक् हरिताभ धूसर, पतली पर्त छोड़ती हुयी प्रतीत होती है। पत्रदंड लम्बा, पत्र आयताकार, पंखवत् व्यवस्थित, इमली के पत्तों की तरह होते हैं। पुष्पदंड लम्बा होता जिसमें छोटे, पीतवर्ण पुष्प गुच्छों में लगते हैं। फल गोलाकार, आधा से एक इंच व्यास का, मांसल, पीताभ हरित पकने पर रक्ताभ होते हैं जिनके बाह्य पृष्ठ पर छः रेखायें छः खण्डों के द्योतक होती हैं। भीतर षट्कोण बीज होता है। पुष्प फरवरी—मई में तथा फल अक्टूबर से अप्रैल तक मिलते हैं। मार्च—अप्रैल में पत्तियां आ जाती हैं।

जाति — वन्य और ग्राम्य भेद से आंवला दो प्रकार का होता है। वन्य आंवला छोटा, कठिन, अष्ठिल तथा ग्राम्य आंवला, बड़ा मृदु और मांसल होता है।

10.5.3 उत्पत्तिस्थान — भारत में सर्वत्र 4500 फीट की ऊँचाई तक होता है।

10.5.4 रासायनिक संघटन — इसके फल में गैलिक एसिड, टैनिक एसिड, निर्यास, शर्करा, अल्ब्युमिन, सेल्युलोज तथा खनिज द्रव्य (मुख्यतः कैल्शियम) होते हैं। इसमें विटामिन सी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। विटामिन सी का यह सर्वोत्तम वानस्पतिक स्रोत है। आमलकी—स्वरस में नारंगी के रस से 20 गुना अधिक विटामिन सी होता है।

फल के कल्क और स्वरस में क्रमशः 720 और 921 मि० ग्रा० प्रति 100 ग्रा०पाया गया है । इसमें अन्य घटक निम्न प्रकार से है —

आर्द्रता 81.2, प्रोटीन 0.5, वसा 08, खनिज द्रव्य 07, सूत्र 3.4, कार्बोहाइड्रेट 41.8, कैल्शियम 0.05, फासफोरस 0.02प्रतिशत, लौह 1.2 मि० ग्रा०, निकोटिनिक एसिड 0.2 मि० ग्रा०, प्रति 100 ग्राम। टैनिन फल में 28, शाखात्वक् 21, काण्डत्वक् 8.9 तथा पत्र में 22प्रतिशत होता है। फल में 2 टैनिन होते हैं। एक जलीय विश्लेषण के बाद गैलिक एसिड, इलेगिक एसिड तथा ग्लूकोस और दूसरा इलेगिक एसिड औ ग्लूकोस में परिणत होता है। बीजों में भूरे पीले रंग का एक स्थिर तेल (16प्रतिशत) निकलता है।

10.5.5 गुण गुण — गुरू, रूक्ष, शीत **रस** — पच्वरस (लवण रहित), अम्लप्रधान **विपाक** — मधुर **वीर्य** — शीत

10.5.6 कर्म

दोषकर्म — यह त्रिदोष हर है। अम्ल से बात, मधुर-शीत से पित्त तथा रूक्ष कषाय से कफ का शमन करता है। विशेषतः पित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह दाहप्रशमन, चक्षुष्य और केश्य है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — मेध्य, नाडियों के लिए बल्य तथा इन्द्रियों की शक्ति का वर्धक है।

पाचनसंस्थान — रोचन, दीपन, अनुलोमन अम्लतानाशक और यकृदुत्तेजक है। अल्पमात्रा में स्तम्भन तथा बड़ी मात्रा में श्वसन है।

रक्तवहसंस्थान — हृद्य और शोणितस्थापन है।

श्वसनसंस्थान — कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान — वृष्य और गर्भस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रल और प्रमेहघ्न है।

त्वचा — कुष्ठघ्न है

तापक्रम — ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण — रसायन है।

10.5.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह तीनों दोषों से उत्पन्न विशेषतः पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — दाह, पैत्तिक शिरः शूल तथा मूत्रावरोध में इसका लेप करते हैं। नेत्ररोगों में इसका स्वरस डालते तथा लगाते हैं। खालित्य और पालित्य रोगों में आंवले से सिर धोते हैं

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — मस्तिष्कदौर्बल्य, दृष्टिमांद्य आदि इन्द्रियदौर्बल्य में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान — अरूचि, अग्निमाद्य, विवन्ध, यकृद्विकार, अम्लपित्त, परिणामशूल, उदारवर्त्त, उदररोग तथा अर्श में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान — हृद्रोग, रक्तपित, रक्तविकार में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान — कास, श्वास, यक्ष्मा में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान — शुक्रमेह तथा प्रदर और गर्भाशयदौर्बल्य में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ तथा पैत्तिक प्रमेहों में ताजे आवले का रस पिलाते हैं।

त्वचा — कुष्ठ, विसर्प आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम — जीर्णज्वर, तृष्णा, दाह आदि में आवला लाभकर है।

सात्मीकरण — दौर्बल्य, क्षय, शोथ में प्रयुक्त होता है।

10.5.8 प्रयोज्य अंग — फल

10.5.9 मात्रा — स्वरस 10-20 मि०लि० ; चूर्ण 3-6 ग्रा०

10.5.10 विशिष्ट योग — च्यवनप्राश, बाह्यरसायन, धात्रीलौह, धात्रीरसायन।

10.6 अशोक

कुल— शिंबी कुल लेग्युमिनोसी (Leguminosae)

10.6.1 नाम— लै०— सराका अशोका (Saraca asoca) सं०— अशोक, हेमपुष्प, ताम्रपल्लव, हि०, म०, गु०—अशोक, त०— अशोघम्, ते०—अशोकमु, बं०— अशोक।
स्वरूप एवं परिचय— यह सदा हरा-भरा रहने वाला वृक्ष है। इसकी ऊँचाई 25 से 30 फुट तक होती है। इसका तना गोल, सुंदर, समत्वक युक्त होता है। कांड की छाल बाहर से शुभ्र, धूसर, स्पर्श में खुरदुरी, अंदर से रक्तवर्ण की होती है। यह बहुशाखायुक्त, सघन, छायादार पेड़ है। पत्र लंब गोल 3 से 6 इंच लंबे नोकदार होते हैं। पत्र गहरे हरे रंग के और सूखने पर लाल रंग के हो जाते हैं। पुष्प, गुच्छाकार, नारंगी वर्ण के और फिर क्रमशः लाल वर्ण के सुगंधियुक्त, दर्शनीय होते हैं। ये बसंत ऋतु में आते हैं और वर्षाकाल तक रहते हैं। फलियाँ 4 सs 12 इंच लंबी और 1 से 3 इंच चौड़ी रहती है। ये बैशाख—ज्येष्ठ मास में लगते हैं। फलों msa 4 से 10 तक बीज होते हैं। ये कच्चे में जामुनी रंग के और पकने पर काले वर्ण के हो जाते हैं। बीज 1 से 1.5 इंच लंबे, कुछ चपटे होते हैं। ऊपर की पपड़ी रक्ताभ वर्ण की मोटी होती है। पेड़ को गोदने पर श्वेत निर्यास निकलता है।

10.6.2 उत्पत्ति स्थान— मध्य एवं पूर्वी हिमालय में होता है।

10.6.3 गुण—कर्म— गुण— लघु, यक्ष रस— कषाय, तिक्त विपाक— कटु

वीर्य— शीत कफ पित्त शामक, वेदनस्थापन, विषघ्न, स्तंभन, कृमिघ्न, तृष्णाशामक, रक्तस्तंभन, रक्तशोकध, शोथहर, गर्भाशयसंकोचक, मूत्रल, अश्मरी नाशक, दाह प्रशमन।

प्रयोग— छाल के काढ़े में दूध मिलाकर पिलाने से दोनों प्रकार के प्रदर और गर्भाशय की निर्बलता दूर होती है। छाल के क्वाथ में फिटकरी मिलाकर, उत्तर बस्ति देने से सर्व प्रकार के प्रदर रोगों में लाभ होता है। रक्तार्श में छाल का क्वाथ देते हैं। पुष्पों का प्रयोग रक्तपित्त में करते हैं। छाल के चूर्ण के साथ ब्राह्मी का चूर्ण मिलाकर बुद्धिमांद्र में देते हैं। जिह्वास्तंभ में अशोक छाल और बच का चूर्ण मिलाकर जिह्वा पर रगड़ने से लाभ होता है। अशोक बीज का चूर्ण शीतल जल से पिलाने पर मूत्राघात और अश्मरी में लाभ होता है।

10.6.4 प्रयोज्य अंग— त्वक्, बीज, पुष्प।

10.6.5 मात्रा— क्वाथ 50 मि०लि०, बीजचूर्ण 3-4 ग्राम, पुष्प चूर्ण 3-6 ग्राम।

10.6.6 विशिष्ट योग— अशोकारिष्ट, अशोक घृत।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1— बहेड़ा का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 2— अशोक के वयस्क पेड़ की औसत ऊंचाई बताइये।

प्रश्न 3— आंवले में प्रचुर मात्रा में कौन सा विटामिन पाया जाता है ?

प्रश्न 4— बड़ी हरड़ व छोटी हरड़ अलग अलग प्रजाति के हरड़ के वृक्षों में उगती हैं।

10.7 सारांश

इस इकाई से आपने जाना कि ये चारों वृक्ष आयुर्वेद में कितना महत्व रखते हैं। हरीतकी एक उत्तम रसायन है यहां तक कि इसकी तुलना मां से की गई है। आपने जाना कि स्थान भेद से, स्वरूप भेद से हरीतकी कितने प्रकार की होती है, इसका क्या औषधीय प्रयोग है। इसी प्रकार अन्य औषधीय वृक्षों के महत्व, स्वरूप, प्रयोज्यांग, मात्रा, औषधीय प्रयोग की जानकारी से आप लाभ ले सकते हैं।

10.8 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अ०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती, च०—चरकसंहिता, अ०सं०—अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०—अष्टांगहृदय, चक्र०—चक्रदत्त, आ०वि०—आयुर्वेदविज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश, भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता, सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला, यो०र०—योगरत्नाकर।

10.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. Terminalia bellirica ,
2. 25—30 फुट ,
- 3 . विटामिन—सी
4. ख. असत्य

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India(Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

10.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. हरीतकी के औषधीय प्रयोग विस्तार से बताइये।
2. अशोक का प्राप्तिस्थान, स्वरूप व औषधीय उपयोग बताइये।

इकाई – 11 – बिल्व, अमलतास, मौलसिरी, नीम

11.1 प्रस्तावना**11.2 उद्देश्य****11.3 बेल / बिल्व**

11.3.1 नाम 11.3.2 स्वरूप 11.3.3 उत्पत्तिस्थान 11.3.4 रासायनिक संघटन 11.3.5 गुण

11.3.6 कर्म 11.3.7 प्रयोग 11.3.8 प्रयोज्य अंग 11.3.9 मात्रा 11.3.10 विशिष्ट योग

11.4 अमलतास

11.4.1 नाम 11.4.2 स्वरूप 11.4.3 उत्पत्तिस्थान 11.4.4 रासायनिक संघटन – 11.4.5 गुण

11.4.6 कर्म 11.4.7 प्रयोग 11.4.8 प्रयोज्य अंग 11.4.9 मात्रा 11.4.10 विशिष्ट योग

11.5 मौलसिरी

11.5.1 नाम 11.5.2 स्वरूप 11.5.3 उत्पत्तिस्थान 11.5.4 रासायनिक संघटन 11.5.5 गुण 11.5.6 कर्म 11.5.7 प्रयोग 11.5.8 प्रयोज्य अंग 11.5.9 मात्रा 11.5.10 विशिष्ट योग

11.6 नीम

11.6.1 नाम 11.6.2 स्वरूप 11.6.3 उत्पत्तिस्थान 11.6.4 रासायनिक संघटन 11.6.5 गुण 11.6.6 दोषकर्म 11.6.7 प्रयोग 11.6.8 प्रयोज्य अंग 11.6.9 मात्रा 11.6.10 विशिष्ट योग

11.7 सारांश**11.8 शब्दावली****11.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर****11.10 सन्दर्भ ग्रन्थ****11.11 निबंधात्मक प्रश्न****11.1 प्रस्तावना**

इस इकाई में हम आसानी से उपलब्ध बड़े आकार के औषधीय वृक्षों के बारे में अध्ययन करेंगे। बेल और नीम भारतीय समाज में अपनी एक अलग पहचान और आदर रखते हैं। बेल पत्नी भगवान शिव को चढ़ाने का विधान है। उदररोगों में बेल व अमलतास गुणकारी हैं, मौलसिरी कफपित्तशामक है तो नीम का प्रयोग भारत में सदियों से त्वचा रोगों में होता आया है।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम बेल, अमलतास, मौलसिरी व नीम के स्वरूप, प्राप्ति स्थान, औषधीय गुण, प्रयोग के तरीके व मात्रा तथा प्रयोज्यांग के बारे में जानेंगे। यह भी जानेंगे कि आयुर्वेद की किन औषधियों में इनका उपयोग होता है।

11.3 बेल / बिल्व

गण — शोथहर, अशोघ्न, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग (च०) वृहत् पंचमूल, वरूणादि, अम्बष्ठादि (सु०)।

कुल — जम्बीर कुल — रूटेसी — Rutaceae)

11.3.1 नाम — लै० — ईजेल मार्मेलस (Aegle marmelos) सं० बिल्व (रोगान् विलति भिनत्ति— जो रोगों को नष्ट करें), शांडिल्य (पीड़ा को दूर करने वाला), शैलूष (सुन्दर फल या पहाड़ों पर होने वाला), श्रीफल (सुन्दर फल), मालूर (शरीर की शोभा बढ़ाने वाला) गन्धगर्भ (गन्धयुक्त), कण्टकी (कण्टकयुक्त), सदाफल (सदाफल लगे होने के कारण), महाकपित्थ (बड़े कपित्थ के समान), ग्रन्थिल (शाखायें गांठदार होने से), हि० बेल, म० बेल, गु० बीली, पं० बिल, बं० वेल, मल० विल्वम्, क० विलपत्रे, ते० मोरेडु, सिं० कठोरी, अं०बेल, (Bael)

इसकी मज्जा को विल्वपेशिका, विल्वकर्कटी कहते हैं। सूखे हुये गूदे को 'बेलसौंठ' या 'बेलगिरी' कहते हैं।

11.3.2 स्वरूप — इसका 25-30 फुट ऊँचा, 3-4 फीट मोटा, वर्षायुक्त, सीधे ,तीक्ष्ण, अक्षीय, 1इंच लंबे कण्टकों से युक्त, वृक्ष होता है। पत्र— संयुक्त, त्रिपत्रक और गंधयुक्त होते हैं। पत्रक— अंडाकार या लट्वाकार, भालाकार, 2-4 इंच लंबे होते हैं जिनमें पाशिवक पत्रक अवृन्त और अन्तिम दीर्घवृन्त होता है। पत्रवृन्त लंबा तथा मध्यदंड लम्बा होता है। पुष्प — हरिताभ श्वेत सुगन्धित उद्गम के साथ आते हैं। फल — 2-4 इंच व्यास का, गोलाकार या अंडाकार, धूसर पीताभ होता है जिसकी भीतरी भाग में 8-15 खंड होते हैं। फलत्वक् कठिन चिकनी और सुगन्धित होती है। फलमज्जा पीतवर्ण, मधुर और सुगन्धित होती है। जिसमें पिच्छिल द्रव्य से आवृत बीज—छोटे, कड़े अनेक होते हैं। गर्मियों में पत्ते झड़ जाते हैं। पुष्प मई—जून मास में तथा फल दूसरे वर्ष मई—जून मास में पकते हैं।

जाति — यह वन्य और ग्राम्य दो प्रकार का होता है। जंगली बेल में फल छोटा और कांटे अधिक तथा ग्राम्य में फल बड़ा और कांटे कम होते हैं।

11.3.3 उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में विशेषतः सूखे पहाड़ी क्षेत्रों में तथा हिमालय में चार हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

11.3.4 रासायनिक संघटन — फलमज्जा में म्युसिलेज, पेक्टिन, शर्करा (4.6 प्रतिशत) टेनिन (9प्रतिशत) उड़नशील तेल, तिक्त सत्त्व निर्यास तथा भस्म 2प्रतिशत होते हैं। इसमें 'मार्मेलोसिन' (Marmelosin) नामक एक कार्यकारी द्रव्य होता है। ताजे पत्र से एक विशिष्ट गन्धयुक्त हरा—पीला तेल प्राप्त होता है। पत्र में ईगेलिन, (Aegelin ईगेलिनिन (Aegelinin) आदि अनेक क्षाराभ और कुमारिन पाये गये हैं। बीजों से भी एक हलके पीले रंग का तिक्त तेल निकलता है जिसमें रेचक गुण होता है। मूल एवं काण्ड की छाल में अम्बेलिफेराने एवं अन्य कुमारिन तथा एक क्षाराभ होता है। काण्डत्वक् से मार्मिन (Marmin) नामक एक कुमारिन पाया गया है। काण्ड की भस्म में सोडियम और पोटेशियम के लवण, कैलशियम, और लौह के फास्फेट, कैलशियम कार्बोनेट, मैगनीशियम कार्बोनेट, सिलिका आदि होते हैं।

11.3.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष **रस** — कषाय, तिक्त

विपाक — कटु **वीर्य** — उष्ण

11.3.6 कर्म

दोषकर्म — यह रूक्ष, लघु कषाय और तिक्त होने से कफ का तथा उष्ण होने से वात का शामक है। इस प्रकार यह कफ—वात को शांत करता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — इसका पत्र शोथहर एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — इसका मूल नाडीतन्तुओं का शामक है।

पाचनसंस्थान — कच्चा फल दीपन, पाचन, ग्राही एवं कृमिघ्न है। पका फल कषाय, मधुर, और मृदुरेचन है। अधिक लेने से यह विष्टम्भ उत्पन्न करता है। पत्रस्वरस यकृदुतेजक और पित्तसारक है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृद्य और रक्तस्तम्भन है। शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान — यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्र को कम करता है तथा तद्गत शर्करा भी इससे कम होती है।

प्रजननसंस्थान — यह गर्भाशय—शोथ को दूर करता है।

तापक्रम — इसका मूल एवं पत्र ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — पका फल मधुर होने से बल को बढ़ाता है।

11.3.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — नेत्राभिष्यन्द में पत्र का स्वरस नेत्र में डालते हैं तथा पत्तियों का लेप पलक पर लगाते हैं। पार्श्वशूल, शोथ आदि में पत्तियों से स्वेदन करते हैं।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — इसका मूल वातव्याधि, आक्षेपक, उन्माद, अनिद्रा आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान — मूलत्वक् एवं कच्चे फल का प्रयोग अग्निमांद्य, अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी में होता है। उदरशूल में भी लाभकर है। कच्चे फल का गूदा आग में पकाकर पुराने गुड़ या मधु के साथ मिला कर देने से रक्तातीसार, रक्तप्रवाहिका, रक्तार्श आदि में लाभ करता है। पका फल भी इन रोगों में अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए। विबंध में पका फल देते हैं इससे मल साफ होता है। पत्रस्वरस काली मिर्च के साथ बिबन्ध तथा कामला देते हैं। विसूचिका के प्रतिषेध के लिये इसका फल नित्य खिलते हैं।

रक्तवहसंस्थान — इसका मूल हृदौर्बल्य तथा हृत्कम्प आदि में देते हैं। फल कयास होने से रक्तस्तम्भन है। मूलत्वक् एवं पत्रस्वरस का शोथरोग में प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान — पत्र का स्वरस प्रतिश्याय, कास, श्वास में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान — पत्रस्वरस का प्रयोग इक्षुमेह में करते हैं। ताजे फल का गुदा कबाबचीनी का चूर्ण मिला कर दूध के साथ पूयमेह में देते हैं। इससे शोथ और वेदना कम होती है। छाल का स्वरस जीरा का चूर्ण और दूध के साथ शुक्रमेह में देते हैं।

प्रजननसंस्थान — यह गर्भाशय—शोथ श्वेतप्रदर तथा सूतिकारोग को दूर करता है।

तापक्रम — इसकी मूलत्वक् विषमज्वर में देते हैं। पत्रस्वरस भी ज्वरनाशक है।

सात्मीकरण — बलवृद्धि के लिए पके फल का प्रयोग करते हैं।

11.3.8 प्रयोज्य अंग — मूल, त्वक्, पत्र, फल।

चूर्ण आदि के लिए कच्चा फल मुरब्बे के लिए अधपका फल और पानक के लिए पका फल लेना चाहिए। दशमूल आदि कषायों में मूल की त्वचा ली जाती है।

11.3.9 मात्रा — चूर्ण 3-6 ग्राम, स्वरस 10-20 मि०लि०, पानक 20-40 मि०लि०।

11.3.10 विशिष्ट योग — विल्वपंचक क्वाथ, बिल्वादिचूर्ण, बिल्वादि घृत, बिल्वतेल, बिल्वमूलादि गुटिका।

11.4 अमलतास

गण — कुष्ठघ्न, विरेचन, तिक्तस्कन्ध (च०) आरग्वधादि, श्यामादि, अधोभागहर (सु०)

कुल — शिम्बी— कुल — लेग्युमिनोसी— Leguminosae)।

उपकुल — पूतिकरज्ज—उपकुल सीजलपिनिआयडी — Caesalpinioideae)।

11.4.1 नाम — लै०— कैसिया फिस्टुला (Cassia fistula)

सं०—आरग्वध (रोगों को नष्ट करने वाला), राजवृक्ष (सुन्दर वृक्ष), शम्पाक (कल्याणकारी फल देने वाला) चतुरंगुल (पवों का प्रमाण चार अंगुल होने से), आरेवत (मलों का निकालने वाला), व्याधिघात (रोगों को दूर करने वाला) कृतमाल (पुष्पों की माला धारण करने वाला) सुवर्णक (सुन्दर वर्ण वाला), दीर्घफल (लंबे फल वाला) स्वर्णभूषण (पीतवर्ण के सुवर्णसदृश पुष्पों से युक्त। हि०—अमलतास, किरमाल, सिं० छिमकणी, बं० सौंदाल, ता० कोड़ें, ते० आरग्वधमु रे, मल० कणिकोन्ना, क० फलूस, अं०पर्जिडग कासिया (purging cassia)।

11.4.2 स्वरूप — इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का 25-30 फीट ऊँचा होता है। काण्डत्तवक् धूसरवर्ण या किंचित् रक्ताभ होती है। पत्र संयुक्त, लगभग 1 फुट लंबा होता है जिसमें 8-16 लट्टाकार, भालाकार या लट्वाकार, आयताकार, स्पष्टसिरायुक्त लंबाग्र या तीक्ष्णाग्र पत्रक लगे रहते हैं। पुष्पमंजरी — पत्ती जितनी लंबी होती है और नीचे लटकती रहती है जिस पर चमकीले पीले रंग के पुष्प लगे रहते हैं। अर्न्तदल — संख्या में 5 और पुंकेशर 10 होते हैं जिसमें 3-5 अविकसित या अनुपस्थित होते हैं। फली — 1-2 फुट लंबी, 1 इंच व्यास की, कठिन, नुकीली, बेलनाकार, कच्ची अवस्था में हरे रंग की और पकने पर कृष्णवर्ण होती है। इसमें 25-100 तक चपटे, पीताभ धूसर बीज होते हैं जो कृष्ण फलमज्जा से आवेष्टित होते हैं। बीच-बीच में अनुप्रस्थ आवरणों के होने से फली का आभ्यन्तर भाग अनेक कोष्ठों में विभक्त रहता है। मार्च अप्रैल में वृक्ष की पत्तियां झड़ जाती हैं। इसके बाद नई पत्तियां और पुष्प प्रायः साथ ही निकलते हैं। उसके बाद फली लगती है। जो प्रायः वर्षभर लटकती रहती है। इसकी छाल 'सुमारी' नाम से चमड़ा रंगने के काम आती है।

11.4.3 उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में होता है।

11.4.4 रासायनिक संघटन — इसकी फलमज्जा में ऐन्थ्राक्विनोन, शर्करा 60 प्रतिशत, पिच्छिलद्रव्य, ग्लूटीन, पैक्टिन, रजक द्रव्य, कैल्शियम ऑक्जलेट, क्षार, निर्यास एवं जल होते हैं। काण्डत्वक् में 10-12 प्रतिशत टैनिन होते हैं। पत्र और पुष्प में ग्लाइकोसाइड पाये जाते हैं।

11.4.5 गुण

गुण— गुरू, मृदु, स्निग्धरस — मधुर

विपाक — मधुर **वीर्य** — शीत

11.4.6 कर्म

दोषकर्म — यह मधुर और स्निग्ध होने से वात तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है। रेचन होने से कोष्ठगत पित्त और कफ का संशोधन करता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — यह शोथहर, वेदनास्थापन एवं कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — यह वातहर होने से वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान — यह स्निग्ध होने से अनुलोमन और श्वसन है। यह मृदुविवेचन द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

रक्तवहनसंस्थान — यह हृदय, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान — यह मधुरस्निग्ध होने से कफनिःसारक है तथा मृदु होने से संस्थान के अवयवों में मृदुता उत्पन्न करता है।

मूत्रवहसंस्थान — यह शीत होने से मूत्रजनन है।

त्वचा — यह कुष्ठघ्न और दाहप्रशमन है।

तापक्रम — यह आमशोधन एवं पित्तशामक है तथा श्वसन होने से कोष्ठगत मलों को दूर करता है। इस कारण से ज्वरघ्न है।

11.4.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह वातपैत्तिक विकारों में संशर्मनार्थ प्रयुक्त होता है तथा पित्त और कफविकारों में प्रशमन के लिए देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — व्रणशोथ, ग्रन्थिशोथ, वातरक्त, आमवात, संधिवात आदि शोथवेदनायुक्त रोगों में फलमज्जा और पत्र का लेप करते हैं। मुख तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ से कुल्ला कराते हैं। कुष्ठ एवं कण्डू में इसके पत्र का लेप एवं उद्वर्तन करते हैं।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान — अरूचि, विबन्ध, उदावर्त, शूल यकृच्छोथ और कामला में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान — हृदोग, रक्तपित्त, वातरक्त एवं शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान — शुष्ककास एवं श्वासकष्ट में इसके पुष्पों का अवलेह बनाकर देते हैं। इससे कफ निकलता है और श्वासमार्ग का स्नेहन होता है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ में इसका प्रयोग करते हैं। इससे मूत्र अधिक आता है और मूत्रमार्ग का स्नेहन होता है।

त्वचा — कुष्ठ एवं दाह में इसका सेवन कराते हैं।

तापक्रम — ज्वर में यह अतीव उपयोगी है। मूलत्वक् का भी प्रयोग ज्वर में करते हैं। ब्लैक वाटर फीवन में यह विशेष आधार माना गया है।

11.4.8 प्रयोज्य अंग — फलमज्जा, मूलत्वक्, पुष्प, पत्र।

11.4.9 मात्रा — फल मज्जा 5-10 ग्राम, विरेचनार्थ 10-20 ग्राम, मूलत्वक्क्वाथ 50-100 मि०लि० पुष्प 5-10 ग्राम। पत्र का बाह्य प्रयोग होता है।

11.4.10 विशिष्ट योग — आरगवाधि तेल, आरगवाधि लेह, आरगवाधिरिष्ट।

संग्रहविधि — इसके पके फलों को सात दिनों तक बालू के भीतर रख दें उसके बाद निकाल कर धूप में सुखा दे । खूब सूख जाने पर फलमज्जा निकाल कर शुद्ध पात्र में रख लें।

वक्तव्य — क्वाथ करने से फलमज्जा की शक्ति कम हो जाती है, अतः इसका प्रयोग हिम

या फाण्ट के रूप में करना अच्छा है।

11.5 मौलसिरी

कुल — मधुक कुल — (सैपोटेसी — Sapotaceae)।

11.5.1 नाम — लै० मिम्युसोप्स एलेन्गी (Mimusops elengi)

सं० — बकुल, मधुगन्ध (पुष्प सुगन्धित होने से), चिरपुष्प (इसके पुष्प अधिक दिनों तक रहते हैं) स्थिरपुष्प (पुष्पों की सुगन्ध सूखने पर भी स्थिर रहती है) हि० — मौलसिरी, बं०—म० — बकुल, गु०—बोलसरी, ता०—बगुलम, ते० पगादामानु , मं०—एलेंगी, आ०—गोकुल।

11.5.2 स्वरूप — इसका वृक्ष सदाहरित, सघन, 50 फीट ऊँचा होता है। काण्डत्वक् गहरे धूसरवर्ण, कुछ फटी हुई रहती है। काण्डसार कठिन और भारी, बाहर की ओर रक्ताभ धूसर तथा भीतर की ओर गहरे लाल रंग का होता है। पत्र अण्डाकार या लट्टाकार, भालाकार, चमकील, चिकने, लम्बे, चौड़े तथा लहरदार होते हैं। पुष्प पीताभ, श्वेतवर्ण, सुगन्धित, 1 इंच व्यास के, अक्षीय, समूहबद्ध, या एकल, पत्रवृन्त जितने लम्बे पुष्प दण्ड पर आते हैं। बर्हिदल 8, अन्तर्दल प्रायः 24 पुंकेसर 8 होते हैं। इनमें सूखने पर भी चिरकाल तक सुगन्ध बनी रहती है। फल अंडाकार, लम्बा, कच्ची अवस्था में हरा, कषाय तथा क्षीरयुक्त और पकने पर पीतवर्ण और कषायमधुर हो जाता है। फल के भीतर एक बड़ा, अण्डाकार भूरे रंग का चमकीला बीज होता है। अप्रैल—मई में पुष्प तथा वर्षा में फल लगते हैं।

जाति — इसकी एक और जाति वृहद्बकुल, (बड़ी मौलसिरी) का उल्लेख भावप्रकाश ने किया है। वह वस्तुतः भिन्न वनस्पति (Osmanthus fragrans) है। जिसका ग्रहण प्राचीन वसुक, बुक आदि नामों से करना चाहिए।

11.5.3 उत्पत्तिस्थान — पश्चिम घाट के जंगलों तथा अन्डमान में होता है, यों समस्त भारत में लगाया हुआ मिलता है।

11.5.4 रासायनिक संघटन — इसकी छाल में 3-7 प्रतिशत टैनिन, गोंद, सैपोनिन तथा क्षाराभ होते हैं। पुष्पों में एक सुगन्धित तेल होता है। बीजों में 16-25 प्रतिशत एक स्थिर तेल होता है। जिसका व्यवहार खाने और जलाने में होता है।

11.5.5 गुण

गुण — गुरू **रस** — कषाय, कटु

विपाक — कटु **वीर्य** — शीत

11.5.6 कर्म

दोषकर्म — यह कषाय होने से कफपित्तशामक है।

आभ्यन्तर कर्म—बाह्य — यह स्तम्भन है। इसके पुष्प सौमनस्यजनन है।

आभ्यन्तरपाचनसंस्थान — यह कषाय होने के कारण ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान — इसके पुष्प हृद्य हैं तथा फूल और त्वक् रक्तस्तम्भन हैं।

प्रजननसंस्थान — यह गर्भाशय की शिथिलता, शोथ एवं योनिस्त्राव को दूर करता है। शुक्रसतम्भन भी है।

मूत्रवहसंस्थान — यह बस्ति एवं मूत्रमार्ग के स्त्राव और शोथ को कम करता है।

तापक्रम — यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — यह विषघ्न है तथा इसके फल स्निग्ध—मधुर होन से पौष्टिक हैं।

11.5.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — इसके पुष्प शिरःशूल, मस्तिष्कदौर्बल्य तथा तज्जनित रोगों में प्रयुक्त होते हैं। शिरःशूल में इसके शुष्क पुष्पों के चूर्ण का नस्य लेते हैं।

दांतों की दुर्बलता, दंतचाल तथा पूयदंत में इसकी छाल के क्वाथ से गण्डूष करते हैं, छाल की चूर्ण का मंजन करते हैं तथा इसकी कोमल शाखाओं की दातून करते हैं। इन रोगों में कच्चे फल चबाते भी है। इससे दांत मजबूत होते हैं। और उनसे रक्त, पूय आदि आना बंद हो जाता है।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — अतिसार, प्रवाहिका में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं तथा फल खिलाते हैं। कृमिरोग में इसकी छाल का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान — रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर तथा शुक्रमेह में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान — बस्तिशोथ तथा पूयमेह में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम — ज्वर में इसकी छाल का प्रयोग करते है।

सात्मीकरण — विषों में इसकी छाल तथा सामान्य दौर्बल्य में इसका फल प्रयुक्त होता है।

11.5.8 प्रयोज्य अंग — त्वक्, पुष्प, फल

11.5.9 मात्रा — त्वक्क्वाथ 50-100 मि०लि० पुष्पचूर्ण 1-2 ग्रा०

11.5.10 विशिष्ट योग — बकुलाद्य तेल

11.6 नीम

गण — कण्डूघ्न, तिक्तसकन्ध (च०), आरग्वधादि, गुडूच्यादि, लाक्षादि (सु०)

कुल — निम्ब कुल (मैलिएसी —Meliaceae)

11.6.1 नाम — लै० एजाडिरेक्टा इण्डिका (Azadirachta indica A. Juss)

सं० निम्ब (निम्बति सिच्चति स्वास्थ्यम् जो स्वास्थ्य को बढ़ावे)पिचुमर्द (पिचुं कुष्ठं मर्दयति नाशयति — कुष्ठ को नष्ट करने वाला), अरिष्ट (न रिष्टमशुभमस्मात् — जिससे शरीर को कोई हानि न हो) हि० नीम, बं० निम, म० कडूनिंब, गु० लीमडो, ता० वेंबु वेंपु, पं० निंब, मल० वेप्पु, सिं० निमु०, फा०आजाद दरख्ते, हिन्दी अ० आजादरख्तुल हिद, अं० मार्गो ट्री (Margo tree)।

11.6.2 स्वरूप — इसका वृक्ष 40-50 फीट ऊँचा होता है। काण्ड सरल होता है जिससे चारों ओर शाखा—प्रशाखायें निकली रहती हैं त्वक् स्थूल और खुरदरी तिरछी या लम्बी परिखाओं से युक्त होती है। बाहर की ओर यह गहरी भूरी तथा भीतर की ओर लाल रंग की होती है। इससे एक प्रकार का रस (नीरा—जिसे नीम की ताड़ी कहते हैं) तथा निर्यास निकलता है। पत्र विषमपक्षवत, 8-15 इंच लम्बे होते हैं। पत्रक 1-3 इंच

लम्बे, भालाकार, दन्तुर विषमपार्श्व, 5-9 जोड़ों में होते हैं। पुष्प अक्षीय मंजरियों में, छोटे, श्वेतवर्ण होते हैं। फल लम्बगोल, कच्ची अवस्था में हरे तथा पकने पर पीले होते हैं। इनका आकार खिरनी से बहुत मिलता-जुलता है। इन्हें 'निमोली' कहते हैं। प्रत्येक फल में एक बीज होता है जिससे तेल निकलता है। पतझड़ में इसकी पत्तियां झड़ जाती हैं और बसन्त में ताम्रलोहित पल्लव निकलते हैं। पुष्पोद्गम बसन्त में आता है और फल ग्रीष्म ऋतु के अंत एवं वर्षा के प्रारम्भ में लगते हैं।

11.6.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत में सर्वत्र होता है। पश्चिमोत्तर भारत के शुष्क प्रदेश में यह विशेष रूप से मिलता है।

11.6.4 रासायनिक संघटन — छाल में Nimbin (0.04 प्रतिशत), Nimbinin (0.001 प्रतिशत), Nimbidin (0.4 प्रतिशत), Nimbosterol (0.03 प्रतिशत), उड़नशील तेल (0.02 प्रतिशत), टैनिन (6 प्रतिशत) और मार्गोसिन नामक एक तिक्त घटक होता है। बीजतेल में गन्धक के अतिरिक्त एक क्षाराभ, राल, ग्लाइकोसाइड तथा वसाम्ल होते हैं। निम्बनीरा में स्वतंत्र एमिनोएसिड होते हैं। निम्ब के सारभाग में टैनिन, कैल्शियम, पोटेशियम तथा लौह के लवण पाये जाते हैं बीजों में 45 प्रतिशत स्थिर तैल होता है।

11.6.5 गुण

गुण — लघु **रस** — तिक्त, कषाय

विपाक — कटु **वीर्य** — शीत

11.6.6 दोषकर्म — यह तिक्त होने से कफ और पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — इसका पत्र एवं त्वक्, जन्तुघ्न व्रणपाचन, व्रणशोधन, पूतिहर, दाहप्रशमन एवं कण्डघ्न है। बीजों का तेल व्रणरोपण, कुष्ठघ्न एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — यह तिक्त-कषाय होने से रोचन, ग्राही (बीज-भेदन), कृमिघ्न और यकृदुतेजक है। तिक्त होने के कारण यह पित्त के द्रवत्व का शोषण करता है जिससे अम्लपित में लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान — तिक्तरस होने के कारण यह रक्त को शुद्ध करता है तथा रक्तविकारजन्य शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान — तिक्त होने के कारण यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान — यह तिक्त होने से मूत्रगत कफपैलितिक विकारों को दूर करता है।

प्रजननसंस्थान — इसके बीज गर्भाशयोतेजक है।

त्वचा — तिक्त होने से कुष्ठघ्न एवं शीत होने से दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण — यह मधुमेह को नष्ट करता है। इसका नीरा बल्य है।

तापक्रम — तिक्त होने से यह आमपाचन, ज्वरघ्न और विषेशतः विषमज्वर प्रतिबन्धक है।

नेत्र — इसकी कोमल पत्तियां और पुष्प चक्षुष्य हैं तथा अनेक नेत्ररोगों को दूर करता है।

उत्सर्ग — इसका उत्सर्ग त्वचा के द्वारा होता है अतः उस पर इसकी उत्तेजक क्रिया होती है।

11.6.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — इसका प्रयोग कफपित्तजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — विद्रधि, ग्रंथि और व्रण में इसकी पत्तियों का लेप करते हैं। कण्डू आदि त्वग्दोषों में पत्रक्वाथ से स्नान कराते हैं तथा इसका तेल लगाते हैं। अपची और नाडीव्रण में इसके तेल की वर्ति देते है और सन्धिशोध, आमवात आदि वातिक रोगों में इसका अभ्यङ्ग करते हैं। सिरे के कृमियों को मारने के लिये बीजों को पीस कर लगाते हैं। पालित्य और खालित्य रोग में तेल का नस्य देते है। दाह में पत्रस्वरस का फेन लगाते है।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — अरूचि, वमन, ग्रहणी कृमि तथा यकृद्विकारों में इसकी छाल का स्वरस मधु के साथ देते हैं। ऊर्ध्वग अम्लपित्त तथा कफपैत्तिक छर्दि के लिये यह उत्तम औषध है। अर्श एवं विबन्ध में इसके बीज का प्रयोग किया जाता है।

रक्तवहसंस्थान — विविध रक्तविकारों, फिरंग, उपदंश आदि में इसका प्रयोग करते हैं। शोथ में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान — कासरोग में भी इसकी छाल का रस या क्वाथ देते है।

मूत्रवहसंस्थान — बहूमूत्रता रोग में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान — कष्टप्रसव एवं सूतिकारोग में बीजों का चूर्ण देते है।

त्वचा — कुष्ठरोग तथा दाह में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण — निम्बतेल मधुमेह में प्रयुक्त होता है। इसका नीरा धातुक्षय, यक्ष्मा आदि को दूर करता है।

तापक्रम — यह ज्वर विशेषतः विषमज्वरों एवं जीर्णज्वरों में प्रयुक्त होता है।

नेत्र — अभिष्यन्द आदि नेत्ररोगों में पुष्प तथा पत्र का स्वरस डालते हैं। इसका अन्तःप्रयोग भी करते है।

11.6.8 प्रयोज्य अंग — पुष्प, पत्र, त्वक्, बीज, तेल।

11.6.9 मात्रा — त्वक् चूर्ण 2-4 ग्रा०, पत्र स्वरस 10-20 मि०लि०, तेल 5-10 बूंद।

11.6.10 विशिष्ट योग — निम्बादिचूर्ण, निम्बारिष्ट, निम्बहरिद्राखण्ड।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1— बेल का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 2— मौलसिरी का प्रयोज्यांग क्या है?

प्रश्न 3— अमलतास का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 4— बिल्वादि चूर्ण की सामान्यतः कितनी मात्रा दी जाती है ?

11.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपको बेल, अमलतास, मौलसिरी, नीम के गुणों व स्वरूप की जानकारी हुई होगी। इस जानकारी के आधार पर आप आसानी से इन वृक्षों को पहचान सकते हैं। आपने जाना कि किस प्रकार हम इनके पत्र, मूल, फलों का प्रयोग बलवर्द्धन के लिए व औषधियों के रूप में कर सकते हैं। इनसे किस प्रकार आयुर्वेद की औषधियों का निर्माण किया जा सकता है। किस ऋतु में हमें इनके उत्पाद एकत्र करने चाहिए। आशा है यह जानकारी आपके लिए लाभकारी होगी।

11.8 शब्दावली :-

हि०— हिन्दी, अ०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।
च०—चरकसंहिता, अ०सं०—अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०—अष्टांगहृदय, चक्र०—चक्रदत्त, आ०वि०—आयुर्वेदविज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश, भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता, सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला, यो०र०—योगरत्नाकर।

11.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. *Aegle marmelos* , 2. त्वक, पुष्प, फल 3 . *Casia fistula*,
4. 3 से 6 ग्राम

11.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India(Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

11.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. अमलतास के औषधीय गुण विस्तार से बताइये।
2. बेल का स्वरूप, पहचान व औषधीय उपयोग बताइये, इसके फलों का विभिन्न अवस्थाओं में उपयोग बताइये।

इकाई – 12 – आम, अमरूद, पपीता, जामुन

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 आम

12.3.1 नाम 12.3.2 स्वरूप 12.3.3 उत्पत्तिस्थान 12.3.4 रासायनिक संघटन 12.3.5 गुण 12.3.6 कर्म 12.3.7 प्रयोग 12.3.8 प्रयोज्य अंग 12.3.9 मात्रा 12.3.10 विशिष्ट योग 12.3.11 अतियोग से हानि 12.3.12 उपचार

12.4 अमरूद

12.4.1 नाम 12.4.2 रासायनिकसंघटन 12.4.3 प्रयोग

12.5 पपीता

12.5.1 नाम 12.5.2 स्वरूप 12.5.3 उत्पत्तिस्थान 12.5.4 रासायनिक संघटन 12.5.5 गुण 12.5.6 कर्म 12.5.7 प्रयोग 12.5.8 प्रयोज्य अंग 12.5.9 मात्रा

12.6 जामुन

12.6.1 नाम 12.6.2 स्वरूप 12.6.3 उत्पत्तिस्थान 12.6.4 रासायनिक संघटन 12.6.5 गुण 12.6.6 कर्म 12.6.7 प्रयोग 12.6.8 प्रयोज्य अंग 12.6.9 मात्रा 12.6.10 विशिष्ट योग

12.7 सारांश

12.8 शब्दावली

12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.11 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना :-

इस इकाई में हम आम, अमरूद, पपीता, जामुन का अध्ययन करेंगे। ये सभी भारत में बहुतायत में होने वाले फल हैं। ये फल यहां के जनमानस में खूब व्यवहृत हैं। आम अमरूद व जामुन के वृक्ष बड़े आकार के होते हैं, इनकी आयु लम्बी होती है। पपीते की भारत में बहुत सी किस्में पाई जाती हैं। ये भी बहुवर्षायु वृक्ष है पर आम, जामुन की तरह इसकी बहुत लम्बी आयु नहीं होती। ये सभी फल पुष्टिकारक होने के साथ साथ औषधीय गुणों से भी युक्त होते हैं।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम आम, अमरूद, पपीता जामुन के स्वरूप, आकार, पहचान के तरीके, खेती के तरीके आदि के बारे में जानेंगे। हम इनके उत्पादन, संरक्षण, इनसे बनाए जाने वाले विभिन्न उत्पादों की जानकारी प्राप्त करेंगे। इनके औषधीय गुणों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

12.3 आम

गुण — मूत्रसंग्रहणीय, पुरीषसंग्रहणीय, छर्दिनिग्रहण, हृद्य, कषायस्कन्ध, अम्लस्कन्ध (च०)

कुल — आम्र कुल — (एनाकार्डिएसी — Anacardiaceae)

12.3.1 नाम — लै० मैंगिफेरा इण्डिका (Mangifera indica Linn.)। सं० आम्र, चूत, रसाल, सहकार, पिकबल्लभ, मधूदूत, हि० आम्र;प० अंब, म० आंब, गु० अमरी, ता० मांग, ते० मावि, मल० कन्न० माबु, अ० अंबज, फा० अंबज, अं० मैंगों (एनाकार्डिएसी — (Mango))

12.3.2 स्वरूप — इसका वृक्ष 30-40 फुट से लेकर 100 से 120 फीट तक ऊँचा होता है। पत्र 4-12 इंच लम्बे, 1-3 इंच चौड़े, भालाकार, आयताकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं जिनके मसलने पर सुगंध आती है। पुष्प छोटे, हरित-पीत, लम्बी मंजरी में आते हैं जिससे मादक सुगन्ध आती है। फल अनेक आकृति के, कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभ या रक्ताभ हो जाते हैं। फलमज्जा पीतवर्ण या नारंगी रंग की, मधुर या मधुराम्ल, सुगन्धित होती है। फल के भीतर बड़ी गुठली (बीज) तथा उसके भीतर बीजमज्जा होती है। बसन्त में पुष्प तथा ग्रीष्म वर्षा में फल लगते हैं।

जाति — इसकी अनेक जातियां होती हैं व्यवहार में कलमी और बीजू ये दो भेद मुख्य माने जाते हैं।

12.3.3 उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में विशेषतः उष्ण प्रदेशों में होता है।

12.3.4 रासायनिक संघटन — कच्चे फल में जल 21 प्रतिशत, जलीय सत्त्व 61.5 प्रतिशत, सेल्युलोज 5 प्रतिशत, अविलेय भस्म 1.5 प्रतिशत और विलेय भस्म 1.9 प्रतिशत (पोटाश टार्टरिक, साइट्रिक तथा मैलिक एसिड होते हैं) होती है। पके फल में पीत रक्षक द्रव्य, पर्णहरित द्रव्य, कार्बनबाइसफ्लाइड, बेज्जोल, गैलिक एसिड, साइट्रिक एसिड तथा गोंद होती है। छाल में टैनिन (16-20 प्रतिशत) होता है। इसमें मैंगिफेरेन भी निकाला गया है। बीजमज्जा में गैलिक और टैनिन एसिड, बसा, शर्करा, गोद, भस्म तथा प्रचुर स्टार्च (72.8 प्रतिशत) होते हैं। बीजमज्जा से सत्त्वपातन द्वारा 6-12 प्रतिशत एक ठोस वसा प्राप्त होती है। फल में विटामिन ए और सी प्रचुर मात्रा में होता है। आम्र के पुष्पों से एक सुगन्धित तेल प्राप्त होता है।

12.3.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष **रस** — कषाय

विपाक — कटु **वीर्य** — शीत

यह छाल का गुण है। पका फल गुरू-स्निग्ध तथा मधुर और कच्चा फल अम्ल होता है।

12.3.6 कर्म

दोषकर्म — इसकी छाल, पत्र, पुष्प तथा बीजमज्जा कफपित्तशामक है। पका फल वातपित्तशामक तथा कच्चा फल त्रिदोषकारक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य — छाल, पुष्प, पत्र तथा बीजमज्जा रक्तरोधक तथा वर्णरोपण है। कच्चा फल आग में पकाने पर दाहप्रशामन होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान — कच्चा फल रोचन, दीपन है। पका फल स्नेहन, अनुलोमन,

सारक है। पत्र छर्दिनिग्रहण है। पुष्प, त्वक् तथा बीजमज्जा स्तम्भन है। बीजमज्जा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान — पका फल हृद्य और शोणितस्थापन है। कच्चा फल रक्तपित्तकोपक है।

प्रजननसंस्थान — पका फल वृष्य है। त्वक् तथा बीजमज्जा गर्भाशयशोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान — बीजमज्जा मूत्रसंग्रहणीय है।

तापक्रम — कच्चा फल आग में पका पानक बना कर देने से दाहप्रशमन होता है।

सात्मीकरण — पका फल बल्य, वर्ण्य और बृंहण है।

12.3.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — छाल, पत्र, पुष्प तथा बीजमज्जा का प्रयोग कफपैत्तिक विकारों में करते हैं। पका फल वातपैत्तिक विकारों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — रक्तस्राव, क्षत तथा व्रण में छाल, पुष्प पत्र तथा बीजमज्जा का चूर्ण लगाते हैं। लू लगने पर तथा दाह में कच्चे फल की आग में पका कर त्वचा पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — अरूचि, अग्निमांद्य में कच्चे फल की चटनी देते हैं। पका फल विबन्ध, कोष्ठगत रौक्ष्य में देते हैं। पत्र का स्वरस वमन रोकने के लिए देते हैं। पुष्प, त्वक् तथा बीजमज्जा का प्रयोग अतिसार, प्रवाहिका में करते हैं। बीजमज्जा का चूर्ण कृमि में भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान — हृद्रोग, रक्ताल्पता, रक्तपित्त में पका फल देते हैं। रक्तपित्त में छाल, पुष्प तथा बीजमज्जा का भी प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान — शुक्रदौर्बल्य में पका फल देते हैं। रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर में बीजमज्जा प्रयुक्त होती है।

मूत्रवहसंस्थान — प्रमेह तथा पूयमेह में बीजमज्जा देते हैं। पूयमेह में पल्लव स्वरस भी दिया जाता है।

तापक्रम — लू लगने पर (अंशुघात में) कच्चे फल को आग में पका कर पानक बना कर पिलाते हैं।

सात्मीकरण — दौर्बल्य, वर्णविकार तथा कृशता में पका आम खिलाते हैं।

12.3.8 प्रयोज्य अंग — छाल, पत्र, पुष्प, फल, बीजमज्जा।

12.3.9 मात्रा — स्वरस 10-20 मि०लि०, क्वाथ 50-100 मि०लि० चूर्ण 3-6 ग्रा०।

12.3.10 विशिष्ट योग — पुष्यानुग में चूर्ण, आम्रपानक।

12.3.11 अतियोग से हानि — आम का कच्चा फल अधिक खाने से मन्दाग्नि, विषमज्वर, रक्तविकार, विबन्ध तथा नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं।

12.3.12 उपचार — उपर्युक्त उपद्रव होने पर सौंठ का चूर्ण जल से या जीरा का चूर्ण काला नमक मिला कर देना चाहिए।

12.4 अमरुद

कुल— मिरिटेसी (Myrtaceae) **12.4.1 नाम—** इसका लैटिन नाम *Psidium guajava* है, संस्कृत में इसे पेरुक व बहुबीज कहते हैं। हिन्दी में अमरुद, गुजराती में जमरुख, मराठी में जामफल, बंगला में गोआर्चाफल तथा अंग्रेजी में *Guava* कहा जाता है।

अमरूद भारत में लगभग सभी जगह होता है यह गूदे के रंग के अनुसार लाल रंग तथा सफेद रंग के गूदे वाला होता है। स्वाद में मीठा या खटआपन लिए मीठा होता है। वर्षा में कम पर शरद काल में अधिक फल होते हैं। शरदकाल में होने वाले फल अपेक्षाकृत अधिक मीठे होते हैं। इसका वृक्ष 10 से 25 फुट तक उंचा होता है, पत्ते 3 से 6 इंच लम्बे, छोटे सफेद पुष्प होते हैं तने से पतली छाल स्वयं ही गिरती है।

12.4.2 रासायनिक संघटन — इसकी मूल तथा छाल में टैनिन अम्ल तथा कैल्सियम ऑक्जलेट के कण पाये जाते हैं। इसके पत्तों में राल, वसा, टैनिन, उड़नशील तैल व खनिज लवण पाए जाते हैं। अमरूद में विटामिन बी व सी पाए जाते हैं।

अमरूद के फल रुचिवर्धक, तृष्णा दूर करके हृदय को बल देने वाले, कृमिनाशक, कफनिःसारक, वमननाशक तथा पेट को साफ करने वाले होते हैं।

12.4.3 प्रयोग

सिरदर्द में अमरूद का लेप लाभकर है, फलों का सेवन हृदय को बल देने वाला, पत्तों के फांट का गंडूष मुंह की दुर्गंध तथा छालों में लाभ करता है। अमरूद का अर्क सूखी खांसी में लाभ देता है। अमरूद को काला नमक, काली मिर्च व अदरक के साथ खाने से आध्मान, अजीर्ण, गैस, विबन्ध दूर होते हैं। इसके पत्तों का 10 ग्राम स्वरस रोज लेने से अजीर्ण व संग्रहणी में लाभ होता है। अमरूद के पत्रस्वरस के आभ्यंतर प्रयोग से धतूरे व भांग का नशा कम होता है।

12.5 पपीता

कुल — एरण्डकर्मटी कुल (कैरिकेसी — Caricaceae)।

12.5.1 नाम — लै० कैरिका पपाया (कैरिकेसी — Carica papaya)।

सं० एरण्डकर्मटी, हि० पपीता, बं० पपेया, गु० पपयी, म० पपाया, ता० पप्पलि, ते० बोप्पयी, कन्न० परंगीमारा, फा० दरख्तखुरपूजा अं० पापा या पपाया (papaw or papaya)

12.5.2 स्वरूप — इसका सुकुमार वृक्ष 10-25 फुट ऊँचा होता है। आजकल इसकी कुछ हाइब्रिड व बौनी किस्में भी प्रचलन में हैं, इनके वृक्ष 5 से 7 फुट ऊँचे होते हैं। शाखा प्रशाखायें प्रायः नहीं होती, काण्ड सीधा और लम्बा होता है। पत्र शीर्षस्थ, ताड़ के पत्ते के सदृश छत्राकार, विस्तृत और गहरे खण्डों में विभक्त होते हैं। पत्रवृत्त 3 फुट तक लंबा और सुषिर होता है। पुष्प प्रायः एकलिंगी होते हैं। बर्हिदल और अर्न्तदल पर्यायित चक्रों में होते हैं पुष्प हरिताभ—श्वेत या श्वेत होते हैं। स्त्रीपुष्प बड़े, प्रायः एकाकी या छोटे मंजरियों में तथा पुंपुष्प बड़ी मंजरियों में होते हैं। फल एक गोष्ठीय, लंबगाल, कच्चे में हरे और पकने पर पीताभ हो जाते हैं कच्चे फल से गाढ़ा दूध निकलता है। फल वृक्ष के शीर्षभाग के पास पत्तियों के आधार भाग में गुच्छबद्ध होते हैं। बीज अनेक, छोटे, कृष्ण या धूसर वर्ण के होते हैं। पुष्प फल शरद् और हेमन्त में आते हैं।

12.5.3 उत्पत्तिस्थान — इसका मूल वासस्थान दक्षिण अमेरिका का ब्राजील नामक प्रदेश है। वहाँ से पुर्तगालियों के द्वारा भारत में इसका प्रवेश हुआ। पुर्तगाली भाषा में इसे 'पपीता' कहते हैं उसी के अनुकरण पर यहाँ भी इसका नाम 'पपीता' प्रसिद्ध हुआ। संप्रति भारत में सर्वत्र होता है।

12.5.4 रासायनिक संघटन — इसके दूध में एक पाचक तत्व होता है इसे 'पापेन' कहते हैं। यह मुख्यतः फल में और अक्षमपात्रा में मूल, पत्र तथा काण्ड में भी पाया जाता है। ताजे फल की मज्जा में पीत रालीय पदार्थ, शर्करा, पेक्टिन, निम्बुकाम्ल, सेवाम्ल तथा पापेन होता है। फलों में विटामिन पर्याप्त मात्रा में होते हैं — विटामिन ए— 2000-300 इ०यु०, थियामिन 15-63 मा०ग्रा० राइबोफ्लेविन 23-83 मा० ग्रा, नियासिन 0.15-0.76 मि०ग्रा०, विटामिन सी 33-136 मि०ग्रा० प्रति 100 ग्राम होता है। सूखे फल में 8.4 प्रतिशत क्षार होता है जिसमें सोडियम, पोटेशियम, स्फूरकाम्ल रहते हैं। बीजों में एक स्थिर तेल 25.3 प्रतिशत तथा उड़नशील तेल 0.09 प्रतिशत, एक ग्लाइकोसाइड कैरिसिन तथा माइरोसिन नामक किण्वतत्व होता है। इनसे एक गन्धकयुक्त पदार्थ, कार्पासिन प्राप्त होता है। पत्तियों में कार्पेन नामक क्षाराभ तथा कार्पोसाइड नामक ग्लकोसाइड होता है।

संग्रहविधि — प्रौढ़ कच्चे फल में चीरे लगाकर दूध को एकत्रित कर छाया में सुखा लें। इस प्रकार जब यह गाढ़ा हो जाय तब वातशून्य पात्र में रख ले। इससे फिर हलके भूर या पीताभ चूर्ण रूप में पापेन प्राप्त किया जाता है। दूध से 20 प्रतिशत पापेन निकलता है। पापेन में दूध जमाने तथा प्रोटीन पचाने की प्रभूत शक्ति होती है। इसके अतिरिक्त, दूध में काइमोपापेन नामक एक किण्वतत्व होता है। जिसमें दूध जमाने की शक्ति तो उतनी ही है किन्तु प्रोटीन—पाचन शक्ति आधी रहती है। पापेन में विशेषता है कि यह क्षाराम्लता के बड़े क्षेत्र में कार्य करता है।

12.5.5 गुण — लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस** — कटु, तिक्त

विपाक — कटु **वीर्य** — उष्ण

12.5.6 कर्म

दोषकर्म — यह कफवातशामक है। पका फल पित्तशामक भी है।

संस्थानिक कर्म बाह्य — इसका दूध लेखन, पत्र और बीज शोथहर तथा वेदनास्थापन हैं।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — इसके बीज और क्षीर वेदनास्थापन हैं।

पाचनसंस्थान — दूध में स्थित पाचक तत्व की क्रिया पेप्सिन की सदृश किन्तु उससे उत्तम होती है। इसका 1 भाग 250 भाग मांस को पचा देता है। आधा भाग सत्त्व आधा लिटर दूध को पचा सकता है। यह कृमिघ्न है विशेषतः गण्डूपद कृमियों पर इसकी क्रिया होती है। वातानुलोमन और यकृदत्तेजक भी है।

रक्तवहसंस्थान — पत्तियों में स्थित कार्पेन नामक तत्व की क्रिया हृदय पर डिजिटेलिस के समान होती है। इससे हृदय का स्पन्दन कम होता है, उसका विश्रामकाल तथा बल बढ़ता है। यह शोथहर एवं रक्तशोधक भी है।

श्वसनसंस्थान — यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान — इसके बीज और क्षीर आर्तवर्जन तथा स्तन्यजनन है।

त्वचा — इसका क्षीर स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है। पत्र भी स्वेदजनन है।

तपाशम — यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — यह विषघ्न, कटुपौष्टिक और बल्य है।

12.5.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है। पका फल पैत्तिक विकारों में भी देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — इसका दूध गलरोग, कण्ठरोहिणी, जिहवाव्रण आदि में लगाया जाता है। पामा, दद्रु कुष्ठ आदि चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं। अर्बुद, ग्रन्थि आदि पर इसका लेप करते हैं। प्राणियों के दंशस्थान पर विशेषतः बिच्छू के विष में इस लगाने से अत्यधिक लाभ होता है। वातव्याधि में पत्तियों को गरम कर सेंकते हैं और बीजों से सिद्ध तेल का अभ्यंग पक्षाघात, अर्दित, चर्मरोग आदि में करते हैं। श्लीपद में पत्रकल्क का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — वातविकारों (पक्षाघात, आमवात आदि) में इसके बीज और क्षीर का प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान — अग्निमान्द्य, अजीर्ण ग्रहणी, उदरशूल यकृत्प्लीहवृद्धि में 10 ग्राम ताजा दूध तीन ग्राम चीनी मिला कर देते हैं। गंडूपद कृमि में 10 ग्राम दूध, 10 ग्राम मधु 20 मि०लि गरम जल मिलाकर ठंडा होने पर देते हैं और दो घंटे बाद एरंडतेल का विरेचन देते हैं। हृदयविरज्य उदररोग में पत्रफाण्ट देते हैं।

रक्तवहसंस्थान — हृदयरोग, शोथ में पत्र का फाण्ट देते हैं। रक्तविकारों में दूध और फल का प्रयोग करते हैं।

श्वंसनसंस्थान — कफनिःसारक होने से कास, श्वांस में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रकृच्छ्र में पत्तियों का फाण्ट देते हैं।

प्रजननसंस्थान — क्षीर और बीजों का प्रयोग रजोरोध, कष्टार्त्तव तथा फल एवं क्षीर का प्रयोग स्तन्यवृद्धि के लिये करते हैं।

त्वचा — त्वग्दोषों में क्षीर और पत्र उपयोगी है।

तापक्रम — ज्वर में पत्तियों का फाण्ट देते हैं। इससे ज्वर कम होता है, मूत्र अधिक निकलता है और हृदय को बल मिलता है।

सात्मीकरण — ग्रहणीजन्य दौर्बल्य में अनेक विषों का निवारण करने के लिये इसका प्रयोग करते हैं।

12.5.8 प्रयोज्य अंग — फल, पत्र, दूध, बीज

12.5.9 मात्रा — पत्रफाण्ट 40-80 मि०लि; दूध 3-6 ग्राम; पाचकसत्व (पापेन) 6-12 ग्रा; बीजचूर्ण आधा से एक ग्राम।

12.6 जामुन

गण — मूत्रसंग्रहणीय, पुरीषविरजनीय, छर्दिनिग्रहण (च०) न्यग्रोधादि (सु०) पंचपल्लव।

कुल — लवंग कुल (मिटेसी — Myrtaceae)।

12.6.1 नाम — लै० सिजिगियम क्युमिनि (Syzygium Cumini)

सं० जम्बू, महाफला, फलेन्द्रा, हि० जामुन, बं० कालजाम, पं० जामलु, म० जाभूल, गु० जांबू, ता० शबल नावल, ते० नेनेडु, मल० नवल, कन्न० नेरले, अं० जामुन (Jaman)

12.6.2 स्वरूप — इसका चिरहरित बड़ा वृक्ष 100फीट तक ऊँचा और 12 फीट तक मोटा होता है। पत्र 3-6 इंच लम्बे, 2-3 इंच चौड़े, भालाकार या लट्वाकार अंडाकार,

चर्मवत्, ग्रन्थिबिंदुकित, चिकने, चमकीले होते हैं। पुष्प हरिताभ श्वेत, सुगंधित, त्रिधाविभक्त मंजरियों में होते हैं। फल आधे से एक इंच लंबे, अंडाकार, कच्चे में हरित, प्रौढ़ावस्था में रक्त और बैंगनी तथा परिपक्वावस्था में गाढ़े नीले वर्ण के हो जाते हैं। फल के भीतर 1-2 से० मी० लंबी एक अस्थि होती है। पुष्प अप्रैल—जून तथा फल जून—जुलाई में लगते हैं।

जाति — इसकी अनेक जातियां होती हैं जिनमें राजजम्बू, क्षुद्रजम्बू और भूमिजम्बू ये तीन जातियां मुख्य हैं। राजजम्बू का वर्णन ऊपर किया गया है। इसे 'फलेन' (फलेन्द्र) भी कहते हैं। क्षुद्रजम्बू इसे 'कठजामून' कहते हैं। इसके फल छोटे होते हैं तथा उनका मांसल भाग कम एवं अम्ल होता है। भूमिजम्बू का वृक्ष झाड़ीदार और छोटा होता है इनके अतिरिक्त गुलाबजामुन (S.jambos (Linn) Alston.) यह विदेशी जामुन है जो वर्मा और बंगाल में होता है। इसका फल अस्थिरहित गोलाकार, पीताभ या गुलाबी रंग का होता है। इन सब में राजजम्बू सर्वोत्तम होता है।

12.6.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत में सर्वत्र 4 हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

12.6.4 रासायनिक संघटन — फल में आर्द्रता 83.7 प्रतिशत, प्रोटीन 0.7 प्रतिशत, वसा 0.3 प्रतिशत, कार्बोहाइड्रेट 14 प्रतिशत, खनिज द्रव्य, विटामिन ए० बी० सी०, मैलिक एसिड, आकजेलिक एसिड, गैलिक एसिड, टैनिन, एक सुगन्धित तेल और नीलरंजक द्रव्य होते हैं। बीजों में कैल्शियम और प्रोटीन विशेष रूप से होता है। इनके अतिरिक्त टैनिन 19 प्रतिशत, इलैगिक एसिड, गैलिक एसिड 1-2 प्रतिशत, स्टार्च तथा हलके पीले रंग का सुगन्धित तेल 0.5 प्रतिशत होता है। काण्ड की छाल में बेटुलिनिक एसिड, बी—सिटोस्टेराल, फ्राइडेलिन, टैनिन 10-12 प्रतिशत गैलिक एसिड, इलैगिक एसिड, मिरेसेटिन होते हैं।

12.6.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष **रस** — कषाय, मधुर, अम्ल

विपाक — कटु **वीर्य** — शीत

12.6.6 कर्म

दोषकर्म — यह रूक्ष—कषाय होने से कफ का तथा शीत—कषाय होने से पित्त का शमन करता है। रूक्ष—शीत कषाय होने से यह प्रबल वातवर्धक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य — स्सतम्भन, त्वग्दोषहर और दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर—पाचनसंस्थान — इसका फल दीपन, पाचन, यकृततेजक तथा स्तम्भन है। पत्र छर्दिनिग्रहण है तथा छाल भी स्तम्भन है। फल अधिक लेने से बिष्टम्भजनक है।

रक्तवहसंस्थान — रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान — इसके फल की गुठली शर्करा की पाचनक्रिया को सुधारता है। अतः इससे रक्तगत तथा मूत्रगत शर्करा कम होती है और मूत्र का प्रमाण भी कम होता है।

12.6.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य — रक्तस्राव होने पर तथा वर्णों में इसकी छाल का अवचूर्णन करते हैं। दाह में फलों का सिरका तिलतैल में मिला कर लगाते हैं। सन्निपातज्वर में जब सन्ताप अधिक होता है तथा दाह, प्रलाप आदि उपद्रव होने लगते हैं तब जामुन

का सिरका तिलतैल में मिला कर कपड़े में भिगो मस्तक पर रखते हैं और ललाट पर इसकी पट्टी देते हैं। उपदंश, फिरंग आदि चर्मविकारों में इसके पत्र से सिद्ध तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर पाचनसंस्थान — इसका फल तथा फलों का सिरका अग्निमांद्य, अजीर्ण, शूल, प्रवाहिका, ग्रहणी आदि में देते हैं। जामुन की गुठली का चूर्ण तथा छाल का क्वाथ भी जीर्ण अतिसार, प्रवाहिका में लाभकर है। कोमल पत्र वमन में प्रयुक्त होता है।

रक्तवह संस्थान — पत्र स्वरस रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है। मुठली रक्तप्रदर, रक्तातिसार आदि में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान — फल की गुठली का चूर्ण मधुमेह तथा उदकमेह के लिए अत्युत्तम औषध है। फलों का सिरका भी प्रमेह में देते हैं।

12.6.8 प्रयोज्य अंग — फल, फलास्थि, त्वक्, पत्र ।

12.6.9 मात्रा — स्वरस 10-20 मि०लि०, चूर्ण 3-6 ग्रा०

12.6.10 विशिष्ट योग — जम्बवाद्य तैल, पंचपल्लवयोग।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1— जामुन का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 2— विटामिन ए निम्न में से किसमें सबसे अधिक होता है ?

प्रश्न 3— अमरूद का पका फल विबन्ध में लाभकर है।

प्रश्न 4— निम्न में से किसका उपयोग मधुमेह में लाभकर है ?

12.7 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आपने जाना कि आम, अमरूद, पपीता, जामुन केवल फल के रूप में खाए जाने वाले पुष्टिकारक द्रव्य ही नहीं, औषधीय द्रव्य भी हैं। इनमें कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, लवण तथा प्रचुर मात्रा में विटामिन पाए जाते हैं। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए फलों का सेवन आवश्यक है। यह एक तथ्य है कि जो लोग अपने भोजन में नियमित रूप से फल खाते हैं, उनकी औसत आयु अधिक होती है। इस इकाई में आपने जाना कि किस प्रकार इन फलदार वृक्षों के पत्र, छाल आदि विभिन्न अंग औषधि के रूप में प्रयोग में लाए जा सकते हैं।

12.8 शब्दावली :-

हि०— हिन्दी, अं०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।

च०—चरकसंहिता, अ०सं०—अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०—अष्टांगहृदय, चक्र०—चक्रदत्त, आ०वि०—आयुर्वेदविज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश, भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता, सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला, यो०र०—योगरत्नाकर।

12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :—

-
1. Syzygium cumini , 2. क- पपीता , 3. क- सत्य 4.
ग- जामुन

12.10 सन्दर्भ ग्रन्थ :—

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India(Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

12.11 निबन्धात्मक प्रश्न :—

1. जामुन के औषधीय गुण विस्तार से बताइये।
2. अमरूद के वृक्ष का स्वरूप व औषधीय उपयोग बताइये।

इकाई – 13— ज्वर, प्रतिश्याय, प्रमेह, चर्मरोग

- 13.1 प्रस्तावना
 13.2 उद्देश्य
 13.3 ज्वरध्न
 13.1.1 अतीस 13.1.2 सहदेवी 13.1.3 हल्दू 13.1.4 कन्टकीकरन्ज
 13.1.5 कुनयन
 13.4 प्रतिश्याय
 13.4.1 द्रोणपुष्पी 13.4.2 गोजिह्वा 13.4.3 वनफशा 13.4.4 तैलपर्ण (यूकेलिप्टस)
 13.5 प्रमेह
 13.5.1 पलाश 13.5.2 शीतलचीनी 13.5.3 वट 13.5.4 पीपल 13.5.5 विजयसार
 13.6 चर्मरोग
 13.6.1 खदिर 13.6.2 चालमोगरा/तुवरक 13.6.3 बाकुची 13.6.4 चमेली/
 जाती 13.6.5 सारिवा 13.6.6 मन्जिष्ठा 13.6.7 चोपचीनी
 13.7 सारांश
 13.8 शब्दावली
 13.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
 13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
 13.11 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम ज्वर में काम आने वाले, प्रतिश्याय में काम आने वाले औषधीय पौधों, प्रमेह में उपयोगी औषधीय पौधों व त्वचा के रोगों में उपयोगी औषधीय पादपों का अध्ययन करेंगे। वैसे तो इस इकाई में अनेक पौधों को अध्ययन के लिए रखा जा सकता है परन्तु इकाई का अधिक विस्तार ना हो, इस सीमा के कारण हर वर्ग में सीमित संख्या में पौधों को रखा गया है। सामान्य ज्वर, सन्तत ज्वर, आन्त्रिक ज्वर, विषम ज्वर आदि में काम करने वाले अनेक द्रव्य हैं, इसी प्रकार यहां दी गई प्रतिश्याय में काम आने वाली औषधियों के अलावा भी बहुत सी औषधियां हैं जो प्रतिश्याय में अच्छा लाभ करती हैं। आप लोग मधुमेह के बारे में तो जानते ही होंगे, मधुमेह में रोगी के रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है, उसके शरीर में पैक्रियाज नामक ग्रंथि ठीक से काम नहीं करती। आयुर्वेद के अनुसार प्रमेह 20 प्रकार का होता है, मधुमेह भी प्रमेह का एक प्रकार है। इसी प्रकार शुक्लमेह, सिकतामेह, हस्तिमेह आदि प्रमेह के प्रकार हैं, पर सबका विस्तार से वर्णन सम्भव नहीं है। चर्म रोग अनेक प्रकार के होते विभिन्न चर्मरोगों में अलग अलग औषधीय पौधे लाभ करते हैं। यहां ज्वर, प्रतिश्याय, प्रमेह, चर्मरोग हर वर्ग में ऐसे पौधों का वर्णन किया गया है, जो ज्यादा उपयोगी हैं और आसानी से उपलब्ध हो सकते हैं।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप ज्वर, प्रतिश्याय, प्रमेह व चर्मरोगों में काम आने वाले औषधीय पौधों के स्वरूप, इनके उत्पत्ति स्थान, इनकी खेती के तरीकों, इनमें पाए

जाने वाले विशेष तत्वों आदि की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। आप यह भी जान सकेंगे कि किस पौधे का कौनसा भाग रोग के निवारण में काम आ सकता है। इसकी कितनी मात्रा प्रयोग करनी चाहिए। इन्हें चूर्ण, फान्ट, क्वाथ तैल किस रूप में प्रयोग करना चाहिए। इन औषधियों में कुछ ऐसी भी हैं जो अधिक मात्रा में लेने पर दुष्प्रभाव भी कर सकती हैं। इस इकाई के अध्ययन से आप जान सकते हैं कि कैसे दुष्प्रभावों से बचा जा सकता है। इनके औषधीय गुणों की जानकारी लेकर आप रोगियों को परामर्श भी दे सकते हैं।

13.3 ज्वर

13.3.1 अतीस

नाम — लैटिन — एकोनाइटम हेटरोफाइलम (Aconitum heterophyllum)

संस्कृत — अतिविषा

हिन्दी — अतीस

कुल — वत्सनाभ — कुल — रैननकुलसी- Ranunculaceae।

स्वरूप — इसका पौधा 1-3 फुट ऊँचा होता है। इसका तना सीधा या शाखायुक्त होता है। यह तना नीचे के हिस्से में चिकना और ऊपर के भाग में रोमयुक्त होता है। पत्र— 2-4 इंच लंबे, लट्टू के आकार के या हृदय के आकार में गोलाई लिए हुए होते हैं, इनका अगला सिरा तीखा या गोल होता है। नीचे के पत्ते बड़े और प्रायः पांच विच्छेदों से युक्त होते हैं तथा ऊपर के पत्ते छोटे अखण्ड होते हैं और तने से जुड़े होते हैं इनके किनारे तीखे दांतेदार होते हैं। इसके फूल चमकीले नीले या हरापन लिए हुए नीले होते हैं। ये बैंगनी रंग की सिरा वाली बहुत से फूलों से युक्त मंजरी में होते हैं जिसमें अन्दरूनी कोष का एक दल सबसे बड़ा और नाग के फन के आकार का होता है। फल— पंचकोषीय होता है जिसमें अनेक बीज होते हैं। इसकी जड़ द्विवर्षीयु होती है जिनमें दो कंद होते हैं एक पिछले वर्ष और दूसरा वर्ष नये का। ताजा कंद लंबगोल, ऊपर से भूरा तोड़ने पर भीतर से सफेद और बीच में 4-5 काले बिन्दुओं से युक्त लंबा और मोटा होता है। जुलाई—अगस्त में पुष्प लगते हैं और फल दिसम्बर—अक्टूबर में लगते हैं।

जाति — संहिताओं में दो प्रकार की अतिविषा या अतीस का उल्लेख मिलता है जिनमें एक अतिविषा है जो जो कठोर, गुरू और कालापन लिए होती है। दूसरी प्रजाति प्रतिविषा है यह प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित अरूण जाति हो सकती है, जिसका रंग लाल होता है।

उत्पत्तिस्थान — यह हिमालयी क्षेत्र में कुमाऊँ गढ़वाल तथा हिमाचल प्रदेश में तक 6-15 हजार फीट की ऊँचाई पर होती है।

रासायनिक संघटन — इससे अतीसिन (Atisine) नामक अस्फटकीय अतितिक्त और निर्विष क्षाराभ तथा दो स्फटिकीय क्षाराभ हेटरैतीसिन (Heteratisine) और हेतिसिन (Hetisin) तथा प्रचुर मात्रा में स्टार्च पाया जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः कफ—पित्त के रोगों में दिया जाता है।

सात्मीकरण — यह मेदोधातु का कम करता है इसलिए मेदोरोग में प्रयुक्त होता है। कटुपौष्टिक होने से ज्वर या अतिसार के बाद हुई दुर्बलता में इसका प्रयोग लाभप्रद है। चूहे या अन्य जीवों के काटने पर विषाक्त प्रभावों को दूर करने के लिए भी दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग — मूल, कन्द

मात्रा — 1-3 ग्राम। अधिक मात्रा में 5-6 ग्राम तक ले लेने पर विषाक्त लक्षण प्रकट होने लगते हैं, अतः कम मात्रा में ही प्रयोग करना चाहिए।

विशिष्ट योग — बालचातुर्भद्र चूर्ण, अतिविषादि चूर्ण।

13.3.2 सहदेवी

नाम — लैटिन — वर्नोनिया साइनेरिया (*Vernonia Cineria*)।

संस्कृत — सहदेवी

हिन्दी — सहदेई

अंग्रेजी — पर्पल फ्लीबेन (Purple Fleabane)।

कुल — भृंगराज — कुल — (कम्पोजिटी — Compositeae)।

स्वरूप — इसका पौधा कोमल होता है, यह छह इंच से तीन फीट तक ऊँचा होता है। इसका तना पतला और परिखायुक्त होता है, इसकी शाखायें रोमयुक्त होती हैं। पत्र अनेक प्रकार के होते हैं, इनमें कुछ रोमयुक्त, कुछ अवृन्त या सूक्ष्मवृन्त वाले होते हैं, ये लम्बे चौड़े, अंडाकार या भाले के आकार के होते हैं, मंजरियों के अग्रभाग में होते हैं। फूल गुलाबी या बैंगनी रंग के होते हैं, सूक्ष्म मुण्डकों में लगे होते हैं। फल 1.25 मि० मी० लंबे, आयताकार होते हैं। वर्षाऋतु में फूल लगते हैं और फल शीतकाल में होते हैं।

उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में 4 हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन — इसमें क्षारों की उपस्थिति पाई गई है। बीजों में 38 प्रतिशत तक तेल होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है। ज्वर में लाभकर है। पुराने बुखार में बहुत लाभ देता है। विशमज्वर में कुनैन के साथ मिलाकर देने से लाभ करता है।

प्रयोज्य अंग — मूल

मात्रा — स्वरस — 10-20 मि० ली०, क्वाथ 50-100 मि०ली०।

13.3.3 हल्दू

नाम — लैटिन — एडिना कॉर्डिफोलिया (*Adina cordifolia*)

संस्कृत — हरिद्रु, पीतदारु,

हिन्दी — हल्दू

कुल — मजिष्ठा — कुल — (रूबिएसी — Rubiaceae)।

स्वरूप — इसके वृक्ष बहुत ऊँचे होते हैं। 80-100 फीट तक ऊँचे वृक्ष पाए जाते हैं। तने की छाल भूरी या सफेद होती है। काशठ कठोर, दृढ, होती है जिसका रंग पीला होता है किन्तु कुछ समय बाद लकड़ी भूरी लाल रंग की हो जाती है। पत्ते काफी

बड़े होते हैं जिनका व्यास ४-९ इंच होता है, पत्रवृन्त 1-2 इंच लंबा होता है, पत्र अभिमुख होते हैं। पत्ते प्रायः वृत्ताकार या लट्टू के आकार के होते हैं। पत्तों का आधार भाग हृदय के आकार का होता है, ये अगले भाग में तीक्ष्ण होते हैं। पुष्प पीले रंग के होते हैं, ये अक्षीय होते हैं और ज्यादातर लंबाई में एक पंक्ति में तीन होते हैं। फल सुपारी की तरह दिखते हैं, और प्रायः आधा इंच व्यास के होते हैं जिनमें 5 बीज होते हैं। जून-जुलाई में फूल खिलते हैं तथा फरवरी से मई तक फल लगते हैं। तने की छाल सफेद या धूसर होती है।

उत्पत्तिस्थान — यह हिमालय की निचली पहाड़ियों में नेपाल से आसाम तक दक्षिण भारत (विशेषतः पूर्वी घाट, कर्नाटक तथा कोंकण) में मिलता है। उत्तराखण्ड में कुमाऊं में बहुत होता है। कुमाऊं के एक प्रमुख शहर का नाम हल्द्वानी पड़ गया। कहते हैं यहां हल्दू बड़ी मात्रा में होता था, इस कारण अंग्रेजों के समय में इसका यह नामकरण हो गया।

रासायनिक संघटन — इसकी छाल में एक तिक्त पदार्थ, टैनिन 7.27-9.6 प्रतिशत तथा एक पीला रंजक द्रव्य (Adinin) होता है

प्रयोग

दोषप्रयोग — कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है। यह ज्वर नाशक है।

सात्मीकरण — कटुपौष्टिक है।

प्रयोज्य अंग — त्वक्

मात्रा — क्वाथ 50-100 मि०लि०।

13.3.4 कण्टकीकरज्ज

नाम — लैटिन — सीजलपिनिया (*Caesalpinia crista*)।

संस्कृत — कण्टकी

हिन्दी — कंटकरेज, करन्जुआ

अंग्रेजी — फीवर नट (Fever nut)।

कुल — शिम्बी — कुल — (लेग्यूमिनोसी -Leguminosae)।

स्वरूप — इसकी बड़ी झाड़ी होती है जो तेजी से फैलती है। इसके गुल्म में तीखे कांटे होते हैं। इसके तने पर और शाखाओं पर सीधे कांटे होते हैं साथ ही इसके पत्तों पर भी कांटे लगे होते हैं परन्तु पत्तों के कांटे टेड़े होते हैं। पत्ते पक्षवत अर्थात् देखने में पंख जैसे होते हैं, इनमें स्थाई उपपत्र लगे होते हैं। आयताकार या लट्वाकार पक्ष 6-8 जोड़े में होते हैं जो लंबे व चौड़े होते हैं। पुष्प— लंबी मंजरियों में होते हैं, इनका रंग हलका पीला होता है। निचले फूलों से ही फल बनते हैं। फल— 2-3 इंच लम्बे, चपटे होते हैं जिनमें चारों ओर कांटे होते हैं। फल स्फोटी होते हैं जिनके भीतर एक या दो बीज होते हैं। बीज— गोल कठोर व चमकीले होते हैं। बीजों का छिलका नीलाभ या भूरे रंग का होता है और बीज के अन्दर पीलापन लिए सफेद गूदा होता है। फूल वर्षा ऋतु में आते हैं तथा शीतकाल या बसन्त में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में 2500 फीट की ऊँचाई तक विशेषतः समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों (मुम्बई, बंगाल तथा दक्षिण भारत) में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन — बीजों में बौण्डुसिन नामक तिक्त ग्लाइकोसाइड, स्थिर तेल 20 प्रतिशत, क्षार 3.5 प्रतिशत, प्रोटीन 20 प्रतिशत, स्टार्च 35.5 प्रतिशत होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफ, पित्त, वात इन तीनों से उत्पन्न विकारों में प्रयुक्त होता है। यह विषमज्वर में बहुत लाभदायक है।

प्रयोज्य अंग — बीज।

मात्रा — बीज के गूदे का चूर्ण 1-3 ग्राम।

13.3.5 कुनयन

नाम — लैटिन — सिनकोना ऑफिसिनेलिस (*Cinchona officinalis*)

संस्कृत— किंकिणी

हिन्दी — कुनैन

अंग्रेजी — सिनकोना (*Cinchona*)।

कुल — मजिष्ठा — कुल — (रूबिएसी — Rubiaceae)।

स्वरूप — इसका वृक्ष 20-30 फीट तक ऊँचा होता है, जो हमेशा हरा रहता है। गोलाकार तना लंबा होता है, तने की छाल बाहर से धूसर भूरी, सफेद होती है जिसमें काले दाग होते हैं। छाल भीतर से पीले रंग की होती है। पत्र— अभिमुख, 3-4 इंच लंबे, लट्वाकार या भाले के आकार के होते हैं तथा पत्रवृन्त लाल होता है। पुष्पदण्ड— अनेक शाखा-प्रशाखाओं वाला होता जिसमें कुछ सफेदी लिये गुलाबी रंग के फूल लगे होते हैं। फूल गुच्छों में लगते हैं। अण्डाकार या आयताकार फल 15-20 मि०मि, तक लंबा होता है।

जाति — इस वृक्ष की अनेक प्रजातियाँ होती हैं जिनमें पीला कुनैन (*C.casisaya*) व लाल कुनैन (*C.succirubra*) मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान — यह मूलरूप से दक्षिण अमेरिका का वृक्ष है। उल्लेख मिलता है कि सोलहवीं सदी में पेरू देश की रानी काउण्टेस सिनकॉन का ज्वर किसी प्रकार ठीक नहीं हो रहा था कुनयन के प्रयोग से उसको विषम ज्वर में लाभ हुआ। तब से इसका नाम सिनकोना पड़ा, ज्वर नाशक के रूप में इसका प्रचार हुआ और यूरोप से यह वृक्ष भारत पहुंचा। वर्मा, जावा में यह प्रचुर होता है। अब नीलगिरी, आसाम, दार्जिलिंग में इसकी खेती होती है।

रासायनिक संघटन — इसकी छाल में मुख्य क्षाराभ होता है क्विनीन (Quinine)। इसके अतिरिक्त 20 अन्य क्षाराभ निकाले गये हैं जिनमें मुख्य सिनकोनिन (Cinchonine), क्विनिडिन (Quinidine), सिनकोडिन (Cinchonidine), है। क्विनिक अम्ल (Quinic acid), सिनकोफुलविक अम्ल (Cincifulvic acid), और सिनको-टैनिन एसिड (**Cincho tannic acid**) ये तीन अम्ल एक ग्लुकोसाइड एक्विनोविन लाल रन्जक द्रव्य तथा उड़नशील तैल होते हैं। बीजों से स्थिर तैल निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — कफपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं। विषमज्वर की प्रशस्त औषधि है।

सात्मीकरण — ज्वरोत्तर दौबल्य में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग — त्वक्, सत्त्व (कुनैन)

मात्रा — त्वक् चूर्ण 1-2 ग्राम, सत्त्व 125-500 मि० ग्राम।

13.4 प्रतिश्याय**13.4.1 द्रोणपुष्पी**

नाम — लैटिन — ल्युकस सिफेलोटस (*Leucas cephalotes*) ।

संस्कृत — द्रोणपुष्पी, फलेपुष्पा (फल पर पुष्प होने के कारण)

हिन्दी — गूमा ।

कुल — तुलसी — कुल — (लैबिएटी — Labiatae) ।

स्वरूप — यह वर्षा ऋतु में उगने वाला छोटा पौधा है जिसकी आयु एक वर्ष से भी कम होती है। इसका 1-3 फीट लम्बा तना चतुष्कोण होता है जिसपर रोम होते हैं। इसके पत्ते 2-3 इंच तक लंबे, 1 इंच चौड़े होते हैं इन पर रोएं होते हैं इनके किनारे दान्तेदार होते हैं। पुष्प— छोटे, 1-2 इंच व्यास के होते हैं, जो रंग में सफेद होते हैं। शीर्ष पर लगे फूल घने गोल चक्रकों में होते हैं जो बड़े भाले के आकार के या अण्डाकार, रोमयुक्त कोणपुष्पकों से घिरे रहते हैं। पुष्पगुच्छ के ऊपर प्रायः दो पत्तियाँ लगी रहती हैं। फूलों की आकृति द्रोण की तरह होती है। बीज छोटे, चिकने, भूरे रंग के होते हैं। फूल व फल शरद और हेमन्त में लगते हैं। गर्मी में पौधा सूख जाता है।

उत्पत्तिस्थान — यह हिमालयी क्षेत्र में 4 हजार फीट की ऊँचाई तक तथा भारत से लंका तक सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन — पुष्पों में एक सुगन्धित तेल तथा एक क्षाराभ (alkaloid) होता है। बीजों से स्थिर तैल निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातविकारों में शमन के लिए तथा पित्तविकारों में संशोधन के लिए दिया जाता है। जुकाम—खांसी, प्रतिश्याय में लाभ करता है।

सात्मीकरण — सर्प विष में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रयोज्य अंग — पंचांग, विशेषकर पत्ते प्रयोग में आते हैं।

मात्रा — स्वरस 10-20 मि०लि० ।

13.4.2 गोजिह्वा

नाम — इसे लैटिन भाषा में ओनोस्मा ब्रैक्टिएटम (*Onosma bracteatum*)

कहते हैं, संस्कृत में गोजिह्वा, खरपत्रा कहा जाता है। इसे अरबी और हिन्दी में गाजबाँ कहते हैं।

कुल — श्लेष्मातक — कुल — (बोरेजिनेसी —Boraginaecae) ।

स्वरूप — इसका छोटा पौधा एक डेढ़ फीट तक ऊँचा होता है। इसका तना दृढ़ होता है तथा इस पर रोम होते हैं। मूल से निकलने वाले पत्ते 6 इंच लंबे, 1 इंच चौड़े, आगे की ओर लंबे, ऊपरी सतह पर रोमयुक्त होते हैं तथा रोमों की मूल में गाँठें होती हैं जिससे पूरी सतह गाय की जीभ के समान खुरदरी प्रतीत होती है। इसी कारण इसे गोजिह्वा भी कहा जाता है। ऊपर के पत्ते भाले के आकार के और नीचे के लट्टू के आकार के होते हैं। बैंगनी रंग के फूल घने, रेशमी मुंडकों में लगते हैं। फल में 1 इंच लंबे रेखाकार बहिर्दल लगे रहते हैं। आधा सेमी० लंबे अण्डाकार फल रंग में भूरे होते हैं जो अगले भाग पर तीखे होते हैं। पत्तों को पानी में भिगोने से लसलसा लुआब

निकलता है। यूनानी में पत्तों को 'वर्क गावजवान' तथा फूलों को 'गुले गावजवान' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान — यह कश्मीर तथा कुमाऊँ में 11,500 फीट की ऊँचाई तक होता है। ईरान और अफगानिस्तान में भी मिलता है।

रासायनिक संघटन — पत्तियों में प्रचुर मात्रा में पिच्छिल द्रव्य होता है। इसके अतिरिक्त सोडियम, पोटेशियम, कैल्शियम, लौह एवं मैगनीशियम के लवण होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह वातपैक्तिक रोगों में उपयुक्त होता है। जुकाम—बुखार की अच्छी दवा है।

सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य में यह दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग — पत्र, स्वरस

मात्रा — पत्र 3 से 6 ग्राम, पुष्प 3 से 6 ग्राम।

विशिष्ट योग— अर्क गावजवां, वनफशादि क्वाथ।

13.4.3 वनफशा

नाम — लैटिन — वायोला ओडोरेटा (*Viola odorata*)

हिन्दी — बनफशा

अंग्रेजी — वाइल्ड या स्वीट वायोलेट (wild or sweet violet)

कुल — बनफशा— कुल — (वायोलेसी — Viloaceae)।

स्वरूप — इसका पौधा छोटा होता है, इसकी जड़ें मजबूत होती हैं। इसमें प्रायः तना नहीं होता है। पत्र— रोमयुक्त, हृदय की आकृति वाले होते हैं, ये अगले भाग पर गोल होते हैं, ये लट्टू के आकार के, गोल और दांतेदार होते हैं इनका व्यास आधे से एक इंच तक होता है और ये समूह में लगे रहते हैं। देखने में ये पत्ते मण्डूकपर्णी की पत्तियों से मिलते जुलते होते हैं। इसमें नीले, बैंगनी रंग के सुगन्धित फूल होते हैं। फूल के बाहरी दलों का अगला भाग गोल होता है।

उत्पत्तिस्थान — यह हिमालय के समशीतोष्ण क्षेत्रों में साढ़े चार हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। कश्मीर की पहाड़ियों पर उगता है। पहले ईरान से यह द्रव्य आता था। यही असली बनफशा है। उत्तरी भारत में इसके स्थान पर इसकी अन्य प्रजातियों यथा वायोला साइनेरिया (*viola cineria*) तथा वायोला सपेन्स (*viola serpens*) का प्रयोग होता है तथा इनकी मिलावट भी की जाती है। अप्रैल से जुलाई के बीच इसका संग्रह किया जाता है।

रासायनिक संघटन — इसके फूल में 'वायोलिन' (*violin*) नामक एक कटु—तिक्त द्रव्य पाया जाता है, जो वामक होता है। इसमें रूटिन, सायनिन, एक ग्लाइकोसाइड, शर्करा और एक रंजक पदार्थ पाया जाता है। पत्तों में एक सुगन्धित तैल, एक क्षाराभ, रंजक द्रव्य फ्रायडेलिन, बी—सिटोस्टेराल और एक अलकोहल होता है। पत्तियों में एक विशिष्ट सुगन्ध होती है जो फूल की सुगन्ध से भिन्न प्रकार की होती है। इसकी जड़ में एक सैपोनिन, एक ग्लाइकोसाइड एक सुगन्धित तेल और ओडोरेटिन नामक एक क्षाराभ होता है। इसके अतिरिक्त पुष्पों में एक उड़नशील तैल भी होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह वातश्लैष्मिक रोगों में प्रयुक्त होता है। इसका क्वाथ देने से प्रतिश्याय व कास में शीघ्र लाभ होता है।

प्रयोज्य अंग — पुष्प, पंचांग

मात्रा — 3.6 ग्राम।

विशिष्ट योग— वनफशादि क्वाथ

13.4.4 तैलपर्ण (युकेलिप्टस)

नाम — लैटिन — युकेलिप्टस ग्लोबुलस (Eucalyptus globulus)

संस्कृत — हरितपर्ण, तैलपर्ण, सुगन्धपत्र

हिन्दी — युकेलिप्टस

अंग्रेजी — तस्मेनियन ब्ल्यू गम युकेलिप्टस (Tasmanian blue-gum Eucalyptus)।

कुल — लंबग — कुल — (मिर्सेसी — Myrtaceae)।

स्वरूप — इसका वृक्ष बहुत ऊँचा होता है कभी कभी तो 300 फीट तक के वृक्ष हो जाते हैं। इसका तना सीधा और लंबा होता है। छाल— प्रायः नीली आभा युक्त या भूरापन लिए हुए सफेद होती है। शाखायें कोणयुक्त होती हैं। पत्र— सीधे व अखण्ड होते हैं पुराने पत्ते पर्यायक्रम में लगे होते हैं। ये , 6–12 इंच लंबे 1–2 इंच चौड़े भाले के आकार के होते हैं इनमें वृन्त होते हैं। नए पत्तों में वृन्त नहीं होते ये अभिमुख, लट्ठाकार होते हैं। पत्तों में उड़नशील तैल होता है इनको मसल कर सूँघने से सुगन्ध आती है। अक्षीय मुण्डकों में सफेद फूल लगते हैं। कभी—कभी फूल रंग में पीलापन या लाली लिए होते हैं। फल— प्रायः गोलाकार, बहिर्दलनलिका में लगा हुआ। बीज— अनेक छोटे होते हैं। त्वचा में क्षत होने से नीले भूरे रंग का गोंद जैसा निर्यास निकलता है।

उत्पत्तिस्थान — यह मूल रूप से आस्ट्रेलिया और तस्मानिया का पौधा है। वर्तमान में भारत में नीलगिरी पर्वत, शिमला में उगाया जाता है। अब तो भारत लगभग सभी जगह इसकी व्यावसायिक खेती की जाती है। इसकी लकड़ी प्लाईवुड बनाने के काम आती है। अन्य भी कई उपयोग होने के कारण तथा पेड़ बहुत जल्दी बढ़ने के कारण किसान इसे कैश क्रॉप के रूप में उगा रहे हैं।

रासायनिक संघटन — इसकी पत्तियों तथा शाखाओं में पीताभ सुगन्धित तैल पाया जाता है। युकेलिप्टस के तैल का उपयोग औषधियों के अलावा उद्योगों में भी किया जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। यह जुकाम खांसी में लाभ करता है। आभ्यंतर प्रयोग के अलावा इसके तैल को दर्दनिवारक के रूप में मालिश के लिए प्रयोग किया जाता है। जुकाम होने पर गर्म पानी में इसके तैल की कुछ बूंदें डालकर सूँघने पर शीघ्र लाभ होता है।

प्रयोज्य अंग — पत्र, निर्यास, तैल

मात्रा — पत्रचूर्ण 1–2 ग्राम, फाण्ट 20–50 मि०लि०, निर्यास 1–2 ग्राम।

13.5. प्रमेह

13.5.1 पलाश

नाम — लैटिन — ब्युटिआ मोनोस्पर्मा (*Butea monosperma*)

संस्कृत — पलाश, किंशुक, रक्तपुष्पक

हिन्दी — ढाक, टेसू

कुल — शिम्बी — कुल — (लेग्युमिनोसी — leguminosae)।

स्वरूप — इसका वृक्ष ४०-५० फीट ऊँचा होता है, तथा इसके तने की मोटाई 5-6 फीट तक होती है। इसका तना टेड़ा-मेड़ा तथा छाल नीलाभ या हलके भूरे रंग की होती है। इसकी शाखायें काले रंग की होती हैं, शाखाओं पर पर्ब या पोरें होती हैं। पत्र— त्रिपत्रक होते हैं, पत्रकों की लम्बाई 4-8 इंच तक होती है। पत्रक ऊपरी सतह पर चमकीले और नीचली सतह पर धूसर होते हैं इसमें रोम होते हैं। आखिरी सिरे वाला पत्रक लट्टू के आकार का होता है जिसका अगला भाग गोल या दो हिस्सों में बंटा होता है। पार्श्व के पत्रक छोटे एवं विशम होते हैं। लम्बी मंजरी में चमकीले नारंगी लाल रंग के फूल लगते हैं। फूल प्रायः ऐसी शाखाओं पर लगते हैं जिनमें पत्ते नहीं होते हैं। एक एक मंजरी में काफी बड़ी संख्या में पुष्प लगते हैं। बाह्यकोष आधा इंच लंबा, मखमली काला, घंटिकाकार, चर्मवत्, ऊपरी ओष्ठ प्रायः दो भागों में बंटा हुआ होता है, निचला ओष्ठ तीन त्रिकोणाकार दांतों से युक्त होता है। बहिर्दल—समान, इसके बाहरी सिरे पर चमकीले घने रोएं होते हैं। मखमली भूरे रंग की फली— 6-8 इंच लंबी डेढ़ इंच चौड़ी, होती है। जिसके भीतर अग्रभाग पर लंबा, चपटा, अण्डाकार, भूरे रंग का एक बीज होता है। फूल बसन्त ऋतु में लगते हैं तथा फल ग्रीष्म ऋतु में आते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पलाश के वृक्ष की छाल में चीरा लगाने पर इससे निर्यास निकलता है जो जमने पर लाल रंग का गोंद बन जाता है। इस गोंद को ब्युटिआ गम कहते हैं। इसके फूलों से लाल रंग प्राप्त होता है।

उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन — इसकी छाल और गोंद में काइनोटैनिक (Kino-tannic acid) तथा गैलिक एसिड 50 प्रतिशत, पिच्छिल द्रव्य तथा क्षार 2 प्रतिशत पाये जाते हैं। बीजों में पलासोनिन नामक सक्रिय तत्व होता है। इसके अतिरिक्त इसमें स्थिर तेल 18 प्रतिशत होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है। पुष्प कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है। इसमें पाया जाने वाला पलासोनिन उदर कृमि को नष्ट करता है। प्रमेह रोगों में इसकी छाल का क्वाथ, सुखाए हुए फूलों का चूर्ण या बीजचूर्ण बहुत लाभ करते हैं।

सात्मीकरण — दौर्बल्य में गोंद का प्रयोग करते हैं। अस्थिभग्न आदि में छाल, पुष्प और गोंद का प्रयोग होता है। विष में बीजों का प्रयोग होता है। इसका पंचांग रसायन कर्म में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग — त्वक्, पुष्प, निर्यास, बीज

मात्रा — त्वक्क्वाथ 50-100 मि०लि०, पुष्पचूर्ण 3-6 ग्राम, निर्यास 1-3 ग्राम बीजचूर्ण 3-6 ग्राम

13.5.2 शीतलचीनी

नाम — लैटिन — पाइपर क्युबेबा (*Piper cubeba*)

संस्कृत — कंकोल, गंधमरिच

हिन्दी — कबाबचीनी, शीतलचीनी

अंग्रेजी — क्युबेब (Cubeb)।

कुल — पिप्पली — कुल — (पाइपरेसी — Piperaceae)।

स्वरूप — इसकी बेल होती है जो पेड़ों पर चढ़ी रहती है। इसके पत्ते पान के आकार के होते हैं जो 5-6 इंच लंबे, लट्टू के आकार के या आयताकार, अगले भाग पर तीक्ष्ण होते हैं। छोटे छोटे एकलिंगी पुष्प गुच्छों में लगे होते हैं। 6-8 मि०मि० व्यास के फल गोल होते हैं जो देखने में मरिच के समान होते हैं। ये वृन्तयुक्त होते हैं, इनमें तीव्र गंध होती है, ये कटु होते हैं तथा इन्हें मुख में रखने पर ठंडक का अनुभव होता है। बेल में फूल और फल शरदऋतु आते हैं।

जाति — *P.ribesoides* तथा *P. sumatrana* के फल शीतलचीनी की तरह गोल मरिच के समान ही दिखते हैं किन्तु आकार में बड़े होते हैं।

उत्पत्तिस्थान — यह ज्यादा इण्डोनेशिया तथा मलेशिया में होता है। भारत में कर्नाटक में इसकी खेती होती है।

रासायनिक संघटन — इसमें एक नीलाभ हरिताभ सुगंधित तैल 5-20 प्रतिशत, रालीय पदार्थ, गोद, रंजक द्रव्य, स्थिर तैल, स्टार्च तथा नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ होते हैं। राल में अनेक घटक होते हैं जिनमें क्युबेबिन (Cubebin), क्युबेबोल (Cubebol) तथा क्युबेबिक अम्ल मुख्य है। इसका मुख्य कार्यकारी तत्त्व क्युबेबिक एसिड है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है। मूत्रविकारों और प्रमेह की यह प्रशस्त औषधि है।

प्रयोज्य अंग — फल

मात्रा — चूर्ण 1-3 ग्राम, तैल 1-3 बूंद।

13.5.3 वट

नाम — लैटिन — फाइकस बंगालेन्सिस (*Ficus bengalensis*)

संस्कृत — वट, न्यग्रोध, बहुपाद

हिन्दी — बड़, बरगद

अंग्रेजी — बानियन (Banyan)

कुल — वट — कुल — (मोरेसी— Moraceae)।

स्वरूप — इसका बहुत बड़ा वृक्ष होता है। इसकी शाखायें बहुत दूर तक चारों ओर फैली रहती हैं जिनसे प्ररोह निकल कर लटकते रहते हैं और बढ़कर भूमि में लग जाते हैं। तने की छाल मोटी सफेद, धूसर, रंग की होती है। इसके पत्ते मोटे चमड़े जैसे लट्टू के आकार के या अंडाकार 4-8 इंच लंबे होते हैं। पत्ते में 3-5 सिरायें होती हैं। इसके फल गोल होते हैं प्रायः जोड़े में लगते हैं। कच्चे फल हरे होते हैं जो पकने पर लाल हो जाते हैं। इसके पुष्प दिखाई नहीं देते वास्तव में फल के भीतर छोटे-छोटे फूल होते हैं। मई-जून में नई पत्तियां निकलती हैं। फल प्रायः वर्ष भर दिखाई देते हैं किन्तु दो बार लाल पके फल दिखते हैं। एक बार ग्रीष्म ऋतु में दूसरा हेमन्त ऋतु में। इसकी टहनी या पत्ते तोड़ने पर या वृक्ष की छाल में चीरा लगाने पर एक दूध जैसा पदार्थ निकलता है।

उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन — छाल और कोंपल में १० प्रतिशत टैनिन होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है। प्रमेह रोग में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग — छाल, क्षीर, पत्र, प्ररोह, फल

मात्रा — क्वाथ 50-100 मि०लि० चूर्ण 3-6 ग्राम, दूध 5-10 बूंद।

13.5.4 पीपल

नाम — लैटिन — फाइकस रिलिजिओसा (*Ficus religiosa*)

संस्कृत — अष्वत्थ, पिप्पल

हिन्दी — पीपल

अंग्रेजी — सैक्रेड फिग (Sacred fig)।

कुल — वट — कुल — (मोरेसी — Moraceae)

स्वरूप — इसका वृक्ष बड़ा होता है। पत्ते प्रायः एक वर्ष तक वृक्ष में रहते हैं। पुराने वृक्ष की छाल फटी सी होती है जिसका रंग धूसर सफेद होता है। 5-7 सिरायुक्त पत्ते पतले, चिकने होते हैं जिनका आकार लट्टू जैसा होता है। ये पत्ते अगले सिरे पर लंबे होते हैं। पत्ते नीचे की ओर लटके होते हैं। फल— छोटे आधा इंच व्यास के होते हैं ये वृन्तहीन होते हैं, जोड़े में लगते हैं। गोल फल कच्चे में हरे होते हैं और पकने पर बैंगनी या काले हो जाते हैं। फल ग्रीष्म ऋतु में लगते हैं और वर्षा ऋतु में पकते हैं। इस वृक्ष के लैटिन नाम फाइकस रिलिजिओसा से भान हो जाता है कि यह वृक्ष पवित्र माना जाता है। हिन्दू और बौद्ध दोनों मतावलम्बी इस वृक्ष को पूजते हैं। कहा जाता है कि पीपल का वृक्ष अन्य वृक्षों के मुकाबले कई गुना ऑक्सीजन पैदा करता है।

उत्पत्तिस्थान — भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन — छाल में टैनिन होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है। यह प्रमेह में बहुत लाभ करता है।

प्रयोज्य अंग — छाल, फल, कोंपल व क्षीर

मात्रा — क्वाथ 50-100 मि०लि०।

13.5.5 विजयसार

नाम — लैटिन — टेरोकार्पस मार्सुपियम (*Pterocarpus marsupium*)

संस्कृत — बीजक, पीतषाल

हिन्दी — जियसार

अंग्रेजी — इण्डियन काइनो ट्री (Indian kino tree)।

कुल — बिम्बी — कुल — (लैग्युमिनोसी — Leguminosae)

स्वरूप — इसका वृक्ष बड़ा होता है। वृक्ष की ऊँचाई 80 फीट तक होती है। छाल बाहर की ओर सफेद रंग की व भीतर की लकड़ी पीलापन लिए हुए होती है। पुराने पेड़ों से एक गोंद जैसा पदार्थ निकलता है जिसका रंग लाल होता है। इसके पत्ते

विषम क्रम में लगते हैं। ये 5से 7 पत्राकों से युक्त पक्षवत होते हैं। पत्ते आयताकार होते हैं जिनके किनारे लहरदार होते हैं। पीले रंग के सुगन्धित फूल लम्बी मंजरियों में लगते हैं। डेढ़ से दो इंच व्यास के चपटे फलों पर पंख जैसी आकृति जुड़ी होती है। फलों के भीतर एक दो कठोर बीज होते हैं। फल में पंख जैसी रचना होने से बीज का प्रकीर्णन हवा के साथ उड़कर दूर दूर तक हो जाता है। सर्दियों में फूल लगते हैं और पौष— माघ में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान — भारत में पर्वतीय क्षेत्रों में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन — छाल में एक लाल रंग का रंजक पदार्थ व एपिकाकैटेचिन होता है। इसके गोंद में काइनोटैकि एसिड पाया जाता है। विजयसार में पाइरोकैटिचिन, गैलिक एसिड, पैक्टिन, लिक्विरिटिरेजिन, आइसो लिक्विरिटिरेजिन व रालीय पदार्थ पाए जाते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है। यह मधुमेह में बहुत लाभ करता है। विजयसार की लकड़ी को पानी में भिगोकर रखने से पहले पानी का रंग पीला हो जाता है, बाद में इसमें नीलापन भी दिखाई देने लगता है। विजयसार की छाल का चूर्ण या क्वाथ या पानी में लकड़ी को डुबोकर उस पानी का सेवन मधुमेह में कराया जाता है।

प्रयोज्य अंग — छाल, कान्डसार, निर्यास या गोंद

मात्रा — क्वाथ 50–100 मि०लि०, चूर्ण— 3से 6 ग्राम, निर्यास— 1से 3 ग्राम।

13.6 चर्मरोग

13.6.1 खदिर

नाम — लैटिन — एकेषिया कैटेचु (Acacia catechu)

संस्कृत — खदिर

हिन्दी — सन्द्रा, खैर

अंग्रेजी — कच्छ ट्री (Cutch tree)।

कुल — षिम्बी —कुल — (लेग्युमिनोसी — Leguminosae)।

स्वरूप — इसका वृक्ष मध्यम आकार का होता है। तने की छाल काली या भूरे रंग की होती है, इसकी मोटाई 1/2 इंच तक होती है, यह लंबी, पतली पत्तों में छूटती रहती है। छाल भीतर से भूरे रंग की होती है। शाखायें— पतली, उपपत्रों के स्थान पर एक जोड़े मुड़े हुए कांटों से युक्त होती है। पत्र— 10–15 से०मी० लंबे होते हैं। पत्र— 40–80 तथा प्रत्येक पक्ष पर 60–100 अवृन्त, रोमयुक्त, रेखाकार पत्रक होते हैं। मुख्य पत्रदण्डक पर एक नीचे और एक ऊपर ग्रंथि होती है। अक्षीय मंजरियों में समूहबद्ध छोटे छोटे सफेद या हल्के पीले रंग के फूल लगे होते हैं। अन्तर्दल— घना रोमयुक्त, हरे रंग का होता है यह बाहरी दल से दुगुना या तिगुना होता है। अन्तर्दल के मूल में पांच गुच्छों में पुंकेसर होते हैं। 2–५ इंच लंबी फली पतली भूरी चमकीली होती है यह अनियमित रूप से सिकुड़ी होती है इसका अगला सिरा गोल या चोंच की तरह होता है जिनमें 5–8 बीज होते हैं। वर्षा ऋतु में फूल और हेमन्त ऋतु में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान — यह पंजाब से सिक्किम तक 5 हजार फीट की ऊँचाई तक उगता है यह रूखे वातावरण में होता है।

रासायनिक संघटन — खदिर के सारभाग से लगभग 3-10 प्रतिशत कत्था प्राप्त होता है। खदिर के सारभाग में कैटेचिन (Catechin) तथा कैटेचुटैनिक एसिड (Catechu tannic Acid) पाया जाता है। पुराने वृक्षों के कोटरों में एक स्वतः निर्मित निर्यास सफेद चूर्ण या स्फटिक के रूप में कभी-कभी प्राप्त होता है इसे खीरसाल कहते हैं। खैर के तने के भीतरी भाग को पानी में उबाल कर कत्था प्राप्त किया जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। त्वचा के रोगों की यह प्रशस्त औषधि है।

सात्मीकरण — मेदोरोग में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग — छाल, खदिरसार

मात्रा — चूर्ण 1-3 ग्राम, क्वाथ 50-100 मि०लि०, खदिरसार 1/2-1 ग्राम।

13.6.2 चालमोगरा / तुवरक

नाम — लैटिन — हिडनोकार्पस लॉरिफोलिया (Hydnocarpus laurifolia)

संस्कृत — तुवरक, कटुकपित्त

हिन्दी — चालमोगरा

कुल — तुवरक — कुल — फ्लैकोर्टिएसी — (Flacourtiaceae)।

स्वरूप — इसका वृक्ष 50 फीट तक या अधिक ऊँचा होता है। पत्ते 4-9 इंच लंबे होते हैं, ये लट्टू के आकार के या आयताकार होते हैं। छोटे-छोटे सफेद फूल गुच्छों में लगते हैं। नरपुष्प तथा स्त्रीपुष्प अलग अलग पेड़ों पर लगते हैं। पुंकेसर 5 होते हैं। बहिर्दल पांच होते हैं जिनमें से तीन बड़े होते हैं फल— 2-4 इंच व्यास के होते हैं, ये देखने में सेव की तरह होते हैं, इन पर रोएं भी होते हैं। बीज— भूरे-धूसर रंग के व अनेक कोण वाले होते हैं।

उत्पत्तिस्थान — यह भारत के पश्चिमी क्षेत्र के पर्वतीय इलाकों तथा दक्षिण कोंकण में होता है। श्रीलंका में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन — बीजों में 63.25 प्रतिशत स्थिर तैल होता है जिसमें चालमोगरिक एसिड, हिडनोकार्पिक एसिड, पामिटिक एसिड आदि होते हैं। तुवरक तेल पीला या भूरा पीला, तथा स्वाद में कटु होता है। इसमें एक विशिष्ट गंध भी होती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है। विभिन्न त्वचा रोगों में लाभ करता है।

प्रयोज्य अंग — बीज, बीजतैल

मात्रा — बीजचूर्ण 1-3 ग्राम, तैल वमन विरेचन के लिए 10 मि०लि० पिलाते हैं, संशमन के लिए 5-10 बूंद तेल मक्खन, घी, मलाई के साथ मिलाकर देते हैं।

13.6.3 बाकुची

नाम — लैटिन — सोरेलिया कौरिलीफोलिया (Psoralia corylifolia)

संस्कृत— बाकुची, पूतिफली, कृष्णफला

हिन्दी — बाकची, बावची

अंग्रेजी — सोरेलिया सीड (Psoralea Seed)

कुल — शिम्बी —कुल — (लेग्युमिनोसी — Leguminosae)।

स्वरूप — इसका छोटा पौधा होता है, यह क्षुप 2-4 फीट ऊँचा होता है। इस पौधे की आयु एक वर्ष तक होती है। ऊपर की ओर उठे हुए तने पर रोमयुक्त शाखाएँ लगी होती हैं, ये धारीदार होती हैं, और इन पर ग्रंथिल धब्बे होते हैं। पत्ते साढ़े तीन इंच लंबे और ढाई इंच चौड़े, दीर्घवृत्त से युक्त होते हैं ये लट्टू के आकार, के और किनारों पर दन्तुर होते हैं। इन पर सिरायें उभरी होती हैं और पत्ती की दोनों सतहों पर काले धब्बे होते हैं। पौधे पर बैंगनी रंग के फूल लगते हैं। पुष्पदण्ड लगभग साढ़े तीन या चार इंच लंबा होता है जिस पर गुच्छों में १०-३० फूल लगते हैं। फल— लगभग 4 मि०मी० लंबे और चौड़े, अंडाकार—आयताकार, कुछ दबे हुये होते हैं इन पर रोम लगे होते हैं, ये गहरे भूरे रंग के या काले रंग के होते हैं। प्रत्येक फल के भीतर एक चिकना बीज होता है। फूल वर्षा ऋतु में लगते हैं तथा नवम्बर—दिसम्बर में फल पकते हैं। मसलने पर बीजों से एक विशिष्ट गंध निकलती है।

उत्पत्तिस्थान — यह प्रायः समस्त भारत में पाई जाती है। राजस्थान और पंजाब में इसे व्यावसायिक लाभ के लिए उगाया जाता है।

रासायनिक संघटन — इसमें एक उड़नशील तैल 0.05 प्रतिशत, एक भूरा स्थिर तैल पाया जाता है। इसके अतिरिक्त Bakuchiol नामक एक फेनोल, कुमारिन यौगिक— Psoralen, isopsoralen, Psorelidin और corylifolin पाये जाते हैं। बीजों में गाढ़ा स्थिर तेल पाया जाता है जो कड़वा होता है और रखने पर जम जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। यह कुष्ठ, किलास, श्वेतकुष्ठ आदि त्वचा के विकारों में बहुत उपयोगी है।

सात्मीकरण — कटुपौष्टिक होने से ज्वर के बाद होने वाले दौर्बल्य तथा पाण्डु या anaemia में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग — बीज, बीजतेल

मात्रा — चूर्ण 1-3 ग्राम।

13.6.4 चमेली / जाती

नाम — लैटिन — जैस्मिनम ऑफिसिनेल (Jasminum officinale)

संस्कृत— जाती, सुमना

हिन्दी — चमेली

अंग्रेजी — स्पैनिश जैसमीन (Spanish or common Jasmine)

कुल — पारिजात —कुल — (ओलिएसी — Oleaceae)।

स्वरूप — इसका पौधा झाड़ीनुमा या बेल के रूप में होता है। शाखाएँ— धारीयुक्त होती हैं। पत्र— अभिमूर्ख, असमपक्षतव् होते हैं जिनमें 7-11 तक पत्रक होते हैं। पुष्प धारण करने वाले दण्ड— अक्षीय या अन्त्य, पत्तियों से बड़े होते हैं जिनमें सफेद रंग के सुगन्धित फूल लगे होते हैं। फूलों के बाहरी दल और अन्तर्दल संख्या में पांच होते हैं। इसके फूल वर्षाऋतु में निकलते हैं।

प्रजाति — पुष्पभेद से इसकी दो जातियाँ होती हैं— (1) श्वेत और (2) पीत। पीत जाति को स्वर्णजाती कहा जाता है इसके फूल पीले व सुगन्धित होते हैं।

उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में लगाई जाती है इसे बागों में लगाया जाता है। उत्तरप्रदेश के जौनपुर, गाजीपुर, फर्रुखाबाद में बड़े पैमाने पर उगाई जाती है। इससे इत्र और तेल बनाया जाता है। एक पौधा लगाने पर 10-15 वर्षों तक फूल देता है।

रासायनिक संघटन — इसके पत्रों में राल, वेतसाम्ल Salicylic acid जैस्मिनीन Jasminine नामक क्षाराभ और कुछ कशायद्रव्य होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग — इसका त्रिदोषज विकारों में प्रयोग करते हैं। यह त्वचा के विकारों में बहुत लाभ करती है। इससे बना जात्यादि तैल बहुत अच्छा वृणरोपक है।

सात्मीकरण — अनेक प्रकार के विशों में भी इसका सेवन कराते है।

प्रयोज्य अंग — पत्र, मूल, पुष्प

मात्रा — क्वाथ 50-100 मि०लि०, चूर्ण 1-3 ग्राम।

13.6.5 सारिवा

नाम — लैटिन — हेमिडेस्मस इण्डिकस (Hemidesmus indicus)

संस्कृत — सारिवा, गोपवल्ली

हिन्दी — अनन्तमूल, कपूरी

अंग्रेजी — इण्डियन सार्सापरिला (Indian sarsaparilla)।

कुल — अर्क — कुल — (ऐस्क्लीपिडेसी — Asclepiadaceae)।

स्वरूप — इसकी पतली बेल ५-१५ फुट लंबी होती है, यह किसी पेड़ या अन्य सहारे पर लिपटती हुई ऊपर जाती है। इसके तने में अनेक कोण होते हैं, तने में पर्व होते हैं जहाँ पर्व होते हैं वहाँ तना मोटा होता है। विभिन्न आकार के पत्ते अभिमुख क्रम से दूर-दूर पर लगते हैं, पत्ते देखने में अनार के पत्ते की तरह अण्डाकार-आयताकार या रेखाकार-भालाकार 1-4 इंच लंबे चौड़े होते हैं। पत्तियों की निचली सतह का रंग हल्का सफेद तथा ऊपरी सतह पर सफेद रेखाएं होती हैं। पत्र के कोण पर मंजरियां लगी होती हैं जिन पर गुच्छों में फूल लगते हैं। फूल बाहर हरिताभ और भीतर बैंगनी रंग के होते हैं। फल— पतले, सींग के आकार के, दो-दो एक साथ लगे होते हैं। इसके भीतर सफेद रूई युक्त अनेक चपटे, काले बीज होते हैं। जड़ व तना ऊपर से लाल रंग के और भीतर से सफेद होते हैं। कच्ची जड़ स्थूल लाल भूरे रंग की होती है, गीली जड़ से कपूर की तरह गंध आती है।

जाति — सारिवा दो प्रकार की होती है :- (१) श्वेत और (२) कृष्ण। श्वेत सारिवा का ऊपर वर्णन किया गया है। कृष्णसारिवा का मूल काले रंग की होती है।

उत्पत्तिस्थान — यह प्रायः समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन — इसके मूल में एक उडनशील तैल होता है इसी के कारण जड़ सुगन्धित होती है। इसके अतिरिक्त B-sitoserol.a और B-amyrins, lupeool, tetracyclic triterpene alcohols राजाम्ल, वसाम्ल, टैनिन, ग्लाइकोसाइड तथा एक कीटोन होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है। रक्तशोधक है, त्वचा के विकारों में बहुत लाभकर है।

सात्मीकरण — दौर्बल्य, पांडु तथा षोथ में उपयोगी है। विषों के संषमन के लिए भी देते हैं।

प्रयोज्य अंग — मूल

मात्रा — फाण्ट 50–100 मि०लि०, कल्क 5–10 ग्राम।

13.6.6 मन्जिष्ठा

नाम — लैटिन — रूबिया कॉर्डिफोलिया (Rubia cordifolia)

संस्कृत — मजिष्ठा

हिन्दी — मंजीठ

अंग्रेजी — इण्डियन मैडर (Indian madder)।

कुल — मजिष्ठा — कुल — (रूबिऐसी — Rubiaceae)।

स्वरूप — ऊपर को आरोहण करने वाली इसकी बेल अनेक शाखा व प्रशाखाओं वाली होती है जो दूर दूर तक फैल जाती है। इसका लाल रंग का तना चतुष्कोण के आकार का होता है। पत्तों का आकार लट्टू जैसा या हृदय जैसा होता है। पत्ते अगले सिरे पर तीक्ष्ण होते हैं, ये 2–4 इंच लंब होते हैं। पत्रवृन्त 1–३ इंच लंबा, पत्ते ऊपरी सतह पर खुरदरा तथा निचली सतह पर पर रोमयुक्त होते हैं। पत्र 4 की संख्या में चक्र की तरह व्यवस्थित होते हैं जिनमें से दो प्रायः बड़े होते हैं। पत्र के मूल से 3–7 बड़ी प्रमुख सिरायें निकलती हैं। पुष्पमंजरी— अन्तिम सिरे में तीन भागों में बंटी हुई होती है। छोटे छोटे फूल पीताभ श्वेत, रोमयुक्त होते हैं। बैंगनी या काले रंग के फल लंबे, गोलाकार व मांसल होते हैं जिनमें दो बीज होते हैं। फूल शरदऋतु में तथा पुष्प के बाद फल लगते हैं। जड़ लम्बी और स्थूल होती है। इसका रंग लाल होता है।

उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत के पार्वतीय क्षेत्रों में 8000 हजार फीट की ऊँचाई तक उगता है।

रासायनिक संघटन — मूल में रालयुक्त सत्त्वपदार्थ, गोंद, शर्करा, रंजक पदार्थ तथा चूने के लवण होते हैं। रंजक द्रव्यों में पर्प्युरिन ग्लुकोसाईड तथा इनके अतिरिक्त, जैन्थोपर्प्युरिन और स्युडोपर्प्युरिन भी होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है। रक्त प्रसादक होता है खून को साफ करके सभी त्वचा रोगों को ठीक करता है। त्वचा के रंग को साफ करके चेहरे की कांति बढ़ाता है।

सात्मीकरण — वर्णविकार, दौर्बल्य तथा विषों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग — मूल

मात्रा — क्वाथ 50–100 मि०लि० चूर्ण 1–3 ग्राम।

13.6.7 चोपचीनी

नाम — लैटिन — स्माइलेक्स चाइना (Smilax china)

संस्कृत — द्वीपान्तरवचा

हिन्दी — चोपचीनी

अंग्रेजी — चायना रूट (China root)।

कुल — रसोन — कुल — (लिलिएसी— Liliaceae)।

स्वरूप — इसकी बेल होती है जो लम्बी और दूर तक फैली होती है। इसकी बेल में अमूमन कांटे नहीं होते हैं पर कभी कभी कांटेदार बेल भी हो जाती है। इसकी बेल भारी और मोटी होती है जिसका रंग लाल होता है। इसके पत्ते अंडाकार या गोलाकार होते हैं। फूलों का रंग सफेद होता है, फूल छोटे होते हैं। इसमें लाल रंग के फल लगते हैं।

जाति — इसका भारतीय प्रतिनिधि *S. glabra* है। अन्य प्रजातियां यथा जंगली उशवा आदि का भी व्यापारी चोपचीनी में अपमिश्रण कर देते हैं।

उत्पत्तिस्थान — मूल रूप से चोपचीनी चीन और जापान का पौधा है। *S. glabra* इसकी भारतीय प्रजाति है जो आसाम की पहाड़ियों में बहुत होता है।

रासायनिक संघटन — मूल में टैनिन तथा राल, सिनकोनिन (Cinchonin), स्माइलेसिन (Smilacin), सैपोनिन, ग्लाइकोसाइड होते हैं। बीजों से 11 प्रतिशत स्थिर तैल निकलता है। पत्तों में रूटिन नामक द्रव्य पाया जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह त्रिदोशज विकारों में प्रयुक्त होता है। यह रक्त का षोधन करके त्वचा विकारों को ठीक करता है। फिरंग रोग में भी लाभकर है।

सात्मीकरण — दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग — कन्द

मात्रा — क्वाथ— 20-40 मिलि०, चूर्ण 3-6 ग्राम। क्वाथ की अपेक्षा चूर्ण अधिक लाभकर है।

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1— अतीस का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 2— विजयसार का विशेष रूप से निम्न रोग में प्रयोग किया जाता है।

प्रश्न 3— निम्न में से किस औषधि का प्रयोग मुख्यरूप से चर्मरोगों में किया जाता है।

प्रश्न 4— चालमोगरा मुख्यरूप से चर्मरोगों में लाभकर है।

13.7 सारांश :-

इस इकाई में आपने अतीस, सहदेवी, हल्दू, कन्टकीकरन्ज, कुनयन आदि ज्वरों पर काम करने वाले द्रव्यों, द्रोणपुष्पी, गोजिह्वा, बनफशा, यूकेलिप्टस आदि प्रतिश्याय पर काम करने वाले द्रव्यों, प्रमेह में काम आने वाले पलाश, पीपल, बड़, शीतलचीनी तथा चर्मरोगों में लाभ करने वाले औषधीय पौधों—बाकुची, चालमोगरा, सारिवा, मंजिष्ठा, खैर, चमेली, चोपचीनी आदि का अध्ययन किया। इन रोगों पर काम करने वाले अनेक अन्य पौधे भी हैं पर यहा कुछ चुनिंदा पौधों के बारे में ही बताया गया है। ये सभी आसानी से उपलब्ध हो सकने वाले द्रव्य हैं। इस इकाई के अध्ययन से आपने इन द्रव्यों के प्रयोग की विधि, मात्रा, अवांछित प्रभाव व उनके निवारण के तरीकों को जाना। आशा है इस इकाई में दी गई जानकारी से लाभ लेकर आप इन औषधीय पौधों द्वारा रोग निवारण के सम्बन्ध में सामान्य परामर्श भी दे सकते हैं। इस

इकाई के अध्ययन से यह भी जानकारी हुई होगी कि कौन सा पौधा कहां उपलब्ध हो सकता है और कैसे इनका वैज्ञानिक रूप से विदोहन किया जा सकता है।

13.8 शब्दावली :-

हि०— हिन्दी, अं०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माषा, र०—रत्ती।

च०—चरकसंहिता, अ०सं०—अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०—अष्टांगहृदय, चक्र०—चक्रदत्त, आ०वि०—आयुर्वेद विज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश, भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता, सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला, यो०र०—योगरत्नाकर।

13.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

- 1- Aconitum heterophyllum , 2. क— प्रमेह, 3. क— बाकुची 4
क— सत्य

13.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, द्रव्यगुण विज्ञान—आचार्य प्रियव्रत शर्मा, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcutta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

13.11 निबंघात्मक प्रश्न :-

- चमेली के पौधे का स्वरूप, गुण, रोगों में प्रयोग बताइये।
- वट वृक्ष के स्वरूप, गुणों, प्रयोज्य अंग व रोगों में प्रयोग बताइये।

इकाई – 14— अस्थि संधिगत व्याधियां

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 रास्ना

14.3.1 नाम 14.3.2 स्वरूप 14.3.3 उत्पत्तिस्थान 14.3.4 रासायनिक संघटन
14.3.5 गुण 14.3.6 कर्म 14.3.7 प्रयोग 14.3.8 प्रयोज्य अंग 14.3.9 मात्रा
14.3.10 विशिष्ट योग

14.4 पदमक

14.4.1 नाम 14.4.2 स्वरूप 14.4.3 उत्पत्तिस्थान 14.4.4 रासायनिक संघटन
14.4.5 गुण 14.4.6 कर्म 14.4.7 प्रयोग 14.4.8 सात्मीकरण 14.4.9
प्रयोज्य अंग 14.4.10 मात्रा

14.5 गुग्गुलु

14.5.1 नाम 14.5.2 स्वरूप 14.5.3 उत्पत्ति स्थान 14.5.4 रासायनिक संघटन
14.5.5 गुण 14.5.6 कर्म 14.5.7 प्रयोग 14.5.8 प्रयोज्य अंग 14.5.9 मात्रा
14.5.10 विशिष्ट योग

14.6 एरण्ड

14.6.1 नाम 14.6.2 स्वरूप 14.6.3 उत्पत्तिस्थान 14.6.4 रासायनिक संघटन
14.6.5 गुण 14.6.6 कर्म 14.6.7 प्रयोग 14.6.8 सात्मीकरण 14.6.9 प्रयोज्य
अंग 14.6.10 मात्रा 14.6.11 विशिष्ट योग

14.7 निर्गुण्डी

14.7.1 नाम 14.7.2 स्वरूप 14.7.3 उत्पत्ति स्थान 14.7.4 रासायनिक संघटन
14.7.5 गुण 14.7.6 कर्म 14.7.7 प्रयोग 14.7.8 सात्मीकरण 14.7.9 प्रयोज्य
अंग 14.7.10 मात्रा 14.7.11 विशिष्ट योग

14.8 देवदारू

14.8.1 नाम 14.8.2 स्वरूप 14.8.3 उत्पत्तिस्थान 14.8.4 रासायनिक
संघटन 14.8.5 गुण 14.8.6 कर्म 14.8.7 प्रयोग 14.8.8 सात्मीकरण
14.8.9 प्रयोज्य अंग 14.8.10 मात्रा 14.8.11 विशिष्ट योग

14.9 शल्लकी

14.9.1 नाम 14.9.2 स्वरूप 14.9.3 उत्पत्तिस्थान 14.9.4 रासायनिक संघटन 14.9.5
गुण 14.9.6 कर्म 14.9.7 प्रयोग 14.9.8 सात्मीकरण 14.9.9
प्रयोज्य अंग 14.9.10 मात्रा

14.10 हड़जोड़

14.10.1 नाम 14.10.2 स्वरूप 14.10.3 उत्पत्तिस्थान 14.10.4 रासायनिक
संघटन 14.10.5 प्रयोग 14.10.6 सात्मीकरण 14.10.7 प्रयोज्य अंग 14.10.8
मात्रा

14.11 लज्जालु

14.11.1 नाम 14.11.2 स्वरूप 14.11.3उत्पत्तिस्थान14.11.4रासायनिक संघटन
14.11.5प्रयोग 14.11.6सात्मीकरण 14.11.7प्रयोज्य अंग 14.11.8मात्रा

14.12 वनपलाण्डु

14.12.1 नाम 14.12.2 स्वरूप 14.12.3उत्पत्तिस्थान
14.12.4 रासायनिक संघटन 14.12.5 प्रयोग 14.12.6सात्मीकरण14.12.7प्रयोज्य
अंग 14.12.8 मात्रा

14.13 सारांश**14.14 शब्दावली****14.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर****14.16 सन्दर्भ ग्रन्थ****14.17 निबंधात्मक प्रश्न****14.1 प्रस्तावना**

वर्तमान समय में बहुत बड़ी संख्या में लोग जोड़ों और अस्थियों के रोगों से पीड़ित हैं। धनाढ्य लोगों में इसका कारण आधुनिक जीवन शैली है। मशीनीकरण के कारण लोग आरामतलब हो गए हैं, शारीरिक श्रम कम हो गया है। भोजन में जरूरत से अधिक वसा, प्रोटीन आदि भी बढ़ते संश्लिगत रोगों का कारण है। ऐसा नहीं है कि केवल अभिजात्य वर्ग में ही जोड़ों के रोग होते हैं, गरीब श्रमिक भी जोड़ों के रोगों से प्रभावित हो सकते हैं पर वहां कुपोषण, अधिक श्रम और आघात जैसे दूसरे कारणों से ऐसा होता है। इस इकाई में हम संधिवात, आमवात, जोड़ों के दर्द—सूजन को कम करने वाले औषधीय द्रव्यों का अध्ययन करेंगे। वातरोग, शोथ व वेदना के अलावा कभी कभी दुर्घटना के कारण अस्थिभग्न जैसी स्थितियां भी आ जाती हैं, ऐसे में टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने वाली हड़जोड़, लज्जालु जैसी वनस्पतियों का भी इस इकाई में वर्णन किया गया है।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई में रास्ना, एरण्ड, गुग्गुलु, षल्लकी, हड़जोड़, लुईमुई, पदमक, देवदारू आदि औषधीय द्रव्यों का वर्णन किया गया है। इस इकाई के अध्ययन से आप अस्थि संश्लिगत व्याधियों में काम आने वाली औषधियों के बारे में विस्तार से जान सकेंगे। आप जान सकेंगे कि जोड़ों के दर्द, सूजन, हड्डियों के टूटने पर कौन से औषधीय द्रव्य प्रयोग किये जा सकते हैं। इनकी कितनी मात्रा उपयोगी है। इन द्रव्यों का उपयोग करने का तरीका क्या है, इनके किस अवयव का उपयोग किया जाना चाहिए अर्थात् मूल,

पत्र, बीज या सर्वांग क्या उपयोगी है। इन औषधियों के उत्पत्ति स्थान आदि की जानकारी प्राप्त कर आप लाभ उठा सकते हैं। इस इकाई में वर्णित अधिकांश पौधे आसानी से उपलब्ध होने वाले हैं हमारे आसपास ही मिल सकते हैं। इनके औषधीय गुणों की जानकारी लेकर आप सामान्य रोगों में लाभ ले सकते हैं।

14.3. रास्ना

14.3.1 नाम — इसका लैटिन नाम प्लुचिया लैन्सिओलेटा (*Pluchea lanceolata*) है। इसे संस्कृत में रास्ना (इसके पत्ते जीभ की तरह दिखाई देते हैं और यह रसादि धातुओं को बढ़ाता है, इस कारण इसे यह नाम दिया गया है।); युक्ता (अनेक रोगों में प्रयुक्त होने के कारण); सुगन्धा (गन्ध युक्त होने से), एलापर्णी (इसके पत्र इलायची के समान होते हैं) हिन्दी में रायसन, वायसुरई कहते हैं, पंजाबी में सरमई, रेशमी कहते हैं। दिल्ली क्षेत्र में इसे रूखड़ी और सिन्ध में कोरसन कहा जाता है।

कुल — भृंगराज कुल — (कम्पोजिटी-**Compositae**)

गण — अनुवासनोपग, वयःस्थापन (च.)। अर्कादि गण, श्लेष्मसंशमन वर्ग (सु.)

14.3.2 स्वरूप — इसका झाड़ीनुमा क्षुप 1-4 फीट ऊँचा होता है। इसके तने पर रोएं होते हैं। इसके पत्र—एकान्तर होते हैं जो 2-6 से०मी० लम्बे होते हैं, इनमें वृन्त नहीं होते, ये भाले के आकार के या आयताकार होते हैं, इसमें सफेद—पीले या बैंगनी रंग के फूल लगते हैं।

14.3.3 उत्पत्तिस्थान — यह उत्तराखण्ड, उत्तर प्रदेश, गंगा के तटीय क्षेत्रों, पंजाब, राजस्थान, गुजरात में होता है।

14.3.4 रासायनिक संघटन — इसकी पत्तियों में क्वर्सिटीन तथा आइजोरैमनेटिन नामक तत्व पाये जाते हैं। इसके पंचांग से प्लुचिन नामक पदार्थ निकाला गया है।

14.3.5 गुण

गुण — गुरु रस — तिक्त विपाक — कटु वीर्य — उष्णप्रभाव — विषघ्न कर्म

14.3.6 दोषकर्म — यह उष्णवीर्य होने के कारण कफवात—शामक है। वातशामक द्रव्यों में रास्ना सर्वोत्तम मानी गई है।

संस्थानिक कर्म — बाह्य — यह लेप के रूप में प्रयोग करने पर शोथहर, शीतहर तथा वेदनाशामक है।

आभ्यन्तर—नाड़ीसंस्थान — यह उत्तम वेदनास्थापन है।

पाचन संस्थान — यह आमपाचन, शूलप्रशमन तथा रेचन है।

रक्तवह संस्थान — यह तिक्त होने के कारण रक्तशोधक है।

ध्वसन संस्थान — यह कासहर तथा श्वासहर है।

तापक्रम — यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — यह विषघ्न, वृष्य एवं रसायन है।

14.3.7 — प्रयोग

इसका प्रयोग कफज तथा वात से उत्पन्न विकारों में होता है। विशेषकर वातव्याधि के लिए यह एक उत्तम औषध है। शरीर का तापमान गिर जाने पर ठंडक को दूर करने तथा गर्मी लाने के लिए इसका लेप किया जाता है। रास्ना और अगुरु का लेप सर्वोत्तम शीतहर कहा गया है। जोड़ों की सूजन और दर्द में भी रास्ना का लेप या इसके तैल की मालिश लाभ करती है। नाड़ियों में वेदनायुक्त वातिक विकार होने पर अकेले रास्ना का या रास्नादि क्वाथ का सेवन कराते हैं। यह आम पाचन के लिए, गुल्म, पेटदर्द तथा कब्ज में दिया जाता है। इससे आम का पाचन होकर शूल शान्त हो जाता है तथा आमजन्य विष का भी निराकरण हो जाता है। यह पेट साफ करता है इससे मल का भी शोधन होता है और रक्त भी शुद्ध हो जाता है। यह वातरक्त आदि रक्तविकारों में लाभकर है। यह खांसी, श्वासरोगों तथा राजयक्ष्मा में लाभकर है। यह आम का पाचन करके ज्वर को शान्त करता है, अतः यह आमवात में प्रयोग में लाया जाता है। इससे जोड़ों की सूजन ठीक होकर, पीड़ा आदि दूर होती है और ज्वर भी उतर जाता है।

सात्मीकरण — यह विषाक्त स्थितियों में देने से लाभ करता है। बलवर्धक के रूप में भी इसका अनेक रूपों में प्रयोग होता है।

14.3.8 प्रयोज्य अंग — पत्र।

14.3.9 मात्रा — क्वाथ—50—100 मि०लि०।

14.3.10 विशिष्ट योग — रास्नादि क्वाथ, रास्नादि तैल, रास्नादि घृत।

14.4. पद्मक

14.4.1 नाम — इसका लैटिन नाम पुनस सिरेसॉयडस (*Prunus cerasoides*); संस्कृत नाम **पद्मगन्धि** (कमल के समान गन्धवाला होने के कारण); **पद्मक** (कमल के समान) तथा हिन्दी नाम **पद्माख**, **पद्मकाष्ठ** है। इसे कुमायूँ की क्षेत्रीय बाली में पड़याँ कहा जाता है, मराठी व गुजराती भाषा में इसे **पद्मकाष्ठ**; अंग्रेजी में बर्ड चेरी (**Bird cherry**) कहा जाता है।

कुल — तरुणी—कुल (रोजेसी—**Rosaceae**)

गण — वेदनास्थापन, वर्ण्य, कषायस्कन्ध (च०), सारिवादि, चन्दनादि (सु०)

14.4.2 स्वरूप — इसके वृक्ष मध्यम आकार के होते हैं। फूल निकलने पर इसका पेड़ बहुत सुन्दर दिखते हैं। इसका तना गोलाकार, लाल सी आभा लिए होता है जिसमें ग्रन्थियां होती हैं तथा इसमें कमल के समान गन्ध होती है। इसकी भूरे रंग की छाल चिकनी होती है। छाल से अनुपस्थ टुकड़े छूटते रहते हैं जिससे चमकीला ताम्रवर्ण पृष्ठ भाग उभरता है। **पत्र** — 3-5 इंच लम्बे, दान्तेदार, चिकने होते हैं। **पुष्प** — सफेद या गुलाबी होते हैं, गुच्छों में लगते हैं और कमल के समान गन्ध से युक्त होते हैं। पुष्पदण्ड 1/2-1 इंच लंबा होता है। **फल** — आयताकार या अंडाकार, चिकना, सवा से 0मी० लंबा पीला या लाल होता है। इसमें गूदा कम होता है तथा इसमें कठोर बीज होता है। फल का गूदा पीला या रक्ताभ, होता है इसमें अम्ल होने से खट्टापन होता है। पौष मास में पुष्प एवं फाल्गुन मास में फल आते हैं।

जाति — दार्जिलिंग की पहाड़ियों में इसकी दो उपजातियाँ पाई जाती हैं। पहली (*Var. rubeus ingram*) इसका वृक्ष लगभग 60 फीट तक ऊँचा होता है जिसमें फूल मार्च महीने में आते हैं। दूसरी (*Var. majestica nigram*) का वृक्ष उससे छोटा लगभग 30-35 फीट ऊँचा होता है जिसमें बरसात के बाद अक्टूबर-नवम्बर में फूल निकलते हैं।

14.4.3 उत्पत्तिस्थान — हिमालय में कश्मीर, उत्तराखण्ड, हिमाचल से सिक्किम और भूटान तक 5-8 हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

14.4.4 रासायनिक संघटन — इसकी छाल में सकुरानेटिन, जेंक्वानिन, प्रुनेटिन, पद्नकाष्ठीन, सकुरानिन, पद्काष्ठिन, टैक्सिफोलिन, पद्मेटिन प्रभृति कार्यकारी द्रव्य पाये जाते हैं। छाल से पर्याप्त गोंद निकलती है।

14.4.5 गुण

गुण — लघु रस — कषाय, तिक्त **विपाक** — कटु **वीर्य** — शीत **प्रभाव** — वेदनास्थापन

14.4.6 कर्म

दोषकर्म — यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म — **बाह्य** — इसका प्रलेप वर्ण्य, कण्डूघ्न, कुष्ठघ्न एवं दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान — इसकी छाल में स्थित तत्त्व की क्रिया इस संस्थान पर विशेष रूप से होती है, जिसके कारण इसका वेदनास्थापन प्रभाव है।

पाचनसंस्थान — कषाय होने से स्तम्भन तथा छर्दिनिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान — कषाय एवं पित्तशामक होने से यह रक्तस्तम्भन तथा रक्तपित्तहर है।

मूत्रवह संस्थान — इसका बीज मूत्रल है।

प्रजनन संस्थान — यह शीत तथा कषाय होने के कारण गर्भस्थापन है।

सात्मीकरण — यह विषघ्न है।

त्वचा — शीत कषाय होने से स्वेदापनयन एवं तिक्त होने से कुष्ठघ्न है।

तापक्रम — तिक्त होने के कारण यह आमपाचन और ज्वरघ्न है।

14.4.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

त्वचा के रोगों में लाभकर है, वर्णविकार, विसर्प एवं खुजली व दाह में इसका लेप करते हैं। दर्द को दूर करता है, इसलिए इसे नाड़ीशूल आदि वेदनाप्रधान रोगों में देते हैं। यह स्तम्भक है इसलिए आमाशय की शिथिलता, वमन और अधिक प्यास लगने की दशा में इसका प्रयोग किया जाता है। यह कफ और पित्त से होने वाले हृदय रोग व रक्तपित्त में लाभ करता है। इसके बीज के गूदे का प्रयोग मूत्र मार्ग की पथरी और मधुमेह में करते हैं। जहां गर्भाशय की दुर्बलता के कारण बार बार गर्भस्राव आदि होने की संभावना रहती है ऐसे विकारों में इसका प्रयोग होता है। गर्भावस्था में बराबर इसका सेवन करने में गर्भपात आदि का भय नहीं रहता। कुष्ठ रोग में लाभकर है पसीना ज्यादा आने की दशा में भी लाभ करता है। ज्वर में भी छाल और बीज का चूर्ण दिया जाता है।

14.4.8 सात्मीकरण — विष में यह उपयोगी।

14.4.9 प्रयोज्य अंग — त्वक् और बीजमज्जा।

14.4.10 मात्रा — चूर्ण 1-3 ग्रा०

14.5 गुग्गुलु

14.5.1 नाम — इसका लैटिन नाम कौमिफोरा मुकुल (*Commiphora mukul*) है, संस्कृत में इसे गुग्गुलु (गुजो व्याधेर्गुडति रक्षति—रोगों से रक्षा करने वाला); देवधूप (देवताओं के धूप में प्रयुक्त होने वाला); कौशिक (वृक्ष के कोश में होने वाला); पुर (औषधों में श्रेष्ठ); पलंकष (पलं मांसं कषति हिनस्ति—स्थूलता को कम करनेवाला लेखन होने के कारण); आदि नामों से जाना जाता है। इसे हिन्दी में गुगल, गुग्गुलु; गुजराती में गुगल; सिन्धी में गुगरु, कन्नड़ में काठगण; तामिल में गुक्कुलु, मैसाचि कुंगिलियम; तेलुगु में मैशाक्षी, गुम्बुलु; अरबी में मुक्लूल् यहूद; फारसी में बूए जहूदान; अंग्रेजी में गम गुग्गुलु (*Gum-guggul*), इण्डियन बेडिलियम (*Indian beddellium*) कहते हैं।

कुल — गुग्गुलु—कुल (बसरिसी—*Burseraceae*)।

गण — एलादि (सु०)।

14.5.2 स्वरूप — इसका छोटा वृक्ष या झाड़ी 4-6 फीट ऊँचा होती है, इसकी शाखाओं में काँटे होते हैं। पत्र—नीम के समान संयुक्त, एकान्तर होते हैं तथा पत्रकोण से निकलते हैं। पुष्प — फूलों का रंग लाल होता है इनमें पांच

पंखुड़ियाँ होती हैं। **फल** — लंबे-गोल फल माँसल होते हैं जिनका रंग लाल होता है। इससे एक गाढ़ा गोंद जैसा निर्यास निकलता है जिसमें अलग अलग सुगन्धि हाती हैं तथा यह अनेक रंगों का होता है। आग में यह जलता है, धूप में पिघल जाता है तथा गरम उबलते पानी में डालने पर दूध के समान सफेद रंग का हो जाता है।

जातियाँ — भावमिश्र, कैयदेव आदि ने गुग्गुलु की वर्णभेद से महिषाक्ष, महानील, कुमुद, पद्म और कनक नाम से पाँच जातियाँ बतलाई हैं जो क्रमशः काले, नीले, भूरे, लाल और पीले रंग के होते हैं। इनमें काला और पीला मनुष्य के लिए उपयोगी है तथा अन्य तीन जातियाँ पशुचिकित्सा में उपयोगी होती हैं। व्यवहार में दो प्रकार का गुग्गुलु मिलता है—1. कणगूगल, 2. भैंसा गूगल। कणगूगल मारवाड़ में होता है और इसके रक्ताभ पीले रंग के कण होते हैं। भैंसा गूगल सिन्ध और कच्छ आदि में होता है और इसका रंग हरिताभ पीला होता है। कणगूगल और भैंसा गूगल शास्त्रोक्त कनक और महिषाक्ष गुग्गुलु की जातियाँ प्रतीत होती हैं। कण और भैंसा क्रमशः कनक और महिषाक्ष के अपभ्रंश रूप हैं। **प्रशस्त गुग्गुलु का लक्षण** — चिकना, मुलायम, पिच्छिल, मधुरगन्ध वाला, तिक्त, पीला, पानी में शीघ्र घुलने वाला तथा मिट्टी, बालू आदि से रहित गुग्गुलु औषध में प्रयोग के लिए प्रशस्त माना जाता है। इसके विपरीत सूखा, दुर्गन्धित, विवर्ण तथा निर्वीर्य गुग्गुलु औषध में प्रयोग में लाने योग्य नहीं होता है।

14.5.3 उत्पत्तिस्थान — इसके पौधे सूखे पथरीले मैदानों में होते हैं। अरब, अफ्रीका बलूचिस्तान तथा भारतवर्ष के सिन्ध, राजस्थान, कर्नाटक प्रदेश में होता है।

बांग्लादेश, आसाम तथा मध्यप्रदेश में एक अन्य प्रजाति **C.roxburghii** होती है। इसकी झाड़ी छोटी होती है तथा पत्तियाँ बड़ी और पतली होती हैं।

भारत में इन्हीं दो पौधों से मुख्यतया गुग्गुलु प्राप्त किया जाता है।

संग्रहकाल — सूर्य की किरणों से पिघल कर ग्रीष्म ऋतु में इसके वृक्षों से निर्यास प्रचुर मात्रा से निकलता है। शिशिर और हेमन्त ऋतुओं में जब वह जम जाता है तब संग्रह कर लिया जाता है। एक पौधे से लगभग 700 ग्रा० से 1 किलो तक गुग्गुलु प्राप्त होता है।

14.5.4 रासायनिक संघटन — इसमें आर्द्रता 6.1, उड़नशील तैल 0.6, राल 61, गोंद 29.3, विजातीय द्रव्य 3.2 प्रतिशत पाये जाते हैं।

14.5.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, विशद, सूक्ष्म, सर, सुगन्धि (पुराण गुग्गुलु) स्निग्ध—पिच्छिल (नवीन गुग्गुलु)

रस — तिक्त, कट **विपाक** — कटु **वीर्य** — उष्ण **प्रभाव** — त्रिदोषहर

14.5.6 कर्म

दोषकर्म — गुग्गुलु उष्ण होने से वात का शमन करता है। यह वातशामक द्रव्यों में प्रमुख है। रूक्ष—विशद होने के कारण यह मेदोहर भी है अतः मेद से आवृत वात में विशेष लाभकर होता है। तीक्ष्णता और उष्णता के कारण यह कफ का भी शामक है।

संस्थानिक कर्म — बाह्य — यह शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपण एवं जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर—नाड़ीसंस्थान — यह वातशामक होने के कारण वेदनास्थापन एवं नाडियों के लिए बलकर है।

पाचनसंस्थान — यह कटुतिक्त और सूक्ष्म होने से दीपन, स्निग्ध—सर होने से अनुलोमन तथा पित्तसारक, तिक्त और उष्ण होने से यकृदुत्तेजक, अर्शोघ्न और कृमिघ्न होता है। सुगन्धि होने से कोष्ठगत दुर्गन्धि को नष्ट करता है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृद्य, रक्तकणवर्धक, श्वेतकणवर्धक तथा रक्तप्रसादन है। यह शोथहर तथा गंडमालानाशक भी है।

प्रजननसंस्थान — उष्ण—तीक्ष्ण होने से कामोत्तेजक और आर्तवजनन, स्निग्ध—पिच्छिल होने से वृष्य एवं वन्ध्यात्वदोष का निवारक है किन्तु पुराना गुग्गुलु शुक्रनाश करता है।

सात्मीकरण — इससे शरीर के सभी संस्थानों को उत्तेजना एवं शक्ति मिलती है अतः यह रसासन और बल्य है। नया गुग्गुलु स्निग्ध होने के कारण बल्य तथा पुराण गुग्गुलु रूक्ष होने के कारण लेखन होता है और मेदोधातु को कम करता है।

त्वचा — यह कुष्ठघ्न एवं वर्ण्य है।

तापक्रम — उष्ण होने से यह शीतप्रशामन है।

उत्सर्ग — इसका उत्सर्ग त्वचा से होता है।

14.5.7 प्रयोग

दोषप्रयोग — इसका प्रयोग कफवातिक विकारों में होता है।

त्वचा के रोगों और बवासीर में गुग्गुलु का लेप लाभ करता है। जोड़ों के दर्द, आमवात, गण्डमाला, अपची पर भी इसका लेप किया जाता है। दुर्गन्धि और कृमि को नष्ट करने के लिए इससे निवासस्थान एवं व्रणों का धूपन करते हैं। गुग्गुलु नाडियों की पीड़ा, सन्धिवात, आमवात, गृध्रसी या सियाटिका, अर्दित, पक्षाघात आदि समस्त वातव्याधियों के लिए बहुत अच्छी औषधि है।

वातरक्त(gout) में भी इसका प्रयोग किया जाता है। उदरकृमि, कब्ज में लाभदायक है। यकृत को ठीक करके भूख बढ़ाता है। पाण्डु (jaundice) में इसका उपयोग करते हैं। हृद्रोग विशेषतः हृदयावरोध (Coronarythrombosis) तथा उपदंशजनित रक्तविकार में भी इसका प्रयोग होता है। जोड़ों की सूजन, गंडमाला (Cervical lymphaginitis), अपची,

ग्रन्थि, श्लीपद(**elephantiasis**) आदि में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है। कफघ्न होने से जीर्णकास, श्वासकास एवं क्षयरोग में इसका प्रयोग करते हैं। मूत्रमात्र की पथरी, मूत्रदाह, मूत्र के संक्रमण आदि विकारों में इसका प्रयोग लाभकर होता है। शीतज्वर आदि में शीतजन्य उपद्रवों की शान्ति के लिए इसका प्रयोग करते हैं। इससे पथरी गलकर निकल जाती है और मूत्र भी स्वच्छ होता है, जिससे दाह में लाभ मिलता है। शुक्रदौर्बल्य, क्लैब्य, कष्टार्त्तव तथा अन्य योनिव्यापत् में इसका प्रयोग करते हैं। कुष्ठ और वर्णविकारों में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण — पुराने गुग्गुलु का प्रयोग प्रमेह और मेदोरोग में करते हैं। गुग्गुलु का प्रयोग रसायन के रूप में भी है।

14.5.8 प्रयोज्य अंग — निर्यास।

14.5.9 मात्रा — 2-4 ग्राम।

रसायन के लिए इसकी अधिकतम एक मात्रा एक पल (40 ग्राम) तथा कुल मात्रा एक तुला (900 पल = 4 कि०) बतलाई गई है (अ०सं० 49/162)

14.5.10 विशिष्ट योग — योगराजगुग्गुलु, कैशोरगुग्गुलु, चन्द्रप्रभा वटी।

शोधन — गाय के दूध में स्वेदन करने से गुग्गुलु शुद्ध हो जाता है।

गुग्गुलुसेवनकाल में परिहार — गुग्गुलु का सेवन करते समय अम्ल, तीक्ष्ण, मद्य अजीर्णभोजन, मैथुन, व्यायाम, आतपसेवन तथा क्रोध का सेवन निषिद्ध है।

अहित प्रभाव — बिना आवश्यकता के गुग्गुलु के अधिक प्रयोग से यकृत और फेफड़ों को हानि पहुँचती है तथा अतियोग से आंखों का तिमिर रोग, मुखशोष, क्लैब्य, कमजोरी, शिथिलता और शरीर में रूखापन आ जाता है।—

14.6 एरण्ड

14.6.1 नाम — इसका लैटिन नाम रिसिनस कॉम्युनिस (**Ricinus Communis**) है। इसे संस्कृत में एरण्ड (वायु का शमन करके अंगों को गतिशील बनाने के कारण); देवधूप (देवताओं के धूप में प्रयुक्त होने वाला); गन्धर्वहस्त (इसके पत्ते गन्धर्वों के हाथ के समान आकृति वाले होते हैं); पंचांगुल (पाँच अंगुलियों से युक्त पत्र वाला); वर्धमान (इसका पौधा शीघ्र बढ़ने वाला होता है); व्याघ्रपुच्छ (इसकी पुष्पमंजरी बाघ की पूँछ के समान दिखाई देती है) आदि नामों से जाना जाता है। इसे हिन्दी में रेंडी, अंडी; अरंडी, बांग्ला में भेरेंडा; मराठी में एरंडी; गुजराती में एरंडो, दिवेलिगो; तामिल में अमनवक्कु, कोट्टइमुथु; तेलुगु में अमुडमुचेट्टु; मलयाली में अवनक्कु; अरबी में खिर्वअ; फारसी में बेद अंजीर तथा अंग्रेजी में कास्टर ट्री (**castor tree**) कहते हैं।

कुल — एरण्ड—कुल (युफॉर्बिआसी—**Euphorbiaceae**)।

गण — भेदनीय, स्वेदोपग, अंगमर्दप्रशमन, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगन्धादि अधोभागहर, वातसंशमन (सु०)।

14.6.2 स्वरूप — इसका पौधा वर्षायु या बहुवर्षायु होता है। इसकी झाड़ी या छोटा वृक्ष 17-18 फीट तक या कभी-कभी अधिक भी ऊँचा होता है। गुजरात में इसकी काफी मात्रा में खेती की जाती है। खेतों में इसके पौधे 1-3 फीट तक ऊँचे होते हैं। **पत्र**—इसके पत्ते हरे या रक्ताभ, 30-60 से०मी० व्यास के, खण्डित तथा अंगुली के आकार के होते हैं। पत्ते 5-11 खण्डों से युक्त होते हैं। ये पत्रखण्ड दान्तेदार होते हैं। पत्रवृन्त 4-12 इंच लम्बा ग्रन्थियुक्त होता है। पुष्पदण्ड 30-60 से०मी० लम्बा होता है। **पुष्प** — एकलिंगी होते हैं। पुष्पदण्ड अनेक होते हैं। स्त्रीपुष्प कुछ बड़े होते हैं। स्त्रीकेशर फैले हुए, बहुत बड़े तथा रंगीन होते हैं। **फल** — गोल, काटेदार होते हैं, **बीज** — आयताकार, चिकने, अनेक रंगों से युक्त तथा चित्रित होते हैं। बीज का बाहरी दिलका कठोर होता है।

जाति — इसकी दो जातियाँ होती हैं—श्वेत और रक्त। रक्त प्रजाति के एरण्ड का तना और पत्ते लाल होते हैं आयु की दृष्टि से भी यह दो प्रकार का होता है— (1) बहुवर्षायु और (2) वर्षायु। बहुवर्षायु के फल और बीज बड़े होते हैं तथा उनमें तैल की मात्रा भी अधिक होती है।

14.6.3 उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारतवर्ष में 7 हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। अधिकतर इसकी खेती की जाती है।

14.6.4 रासायनिक संघटन — इसमें स्थिर तैल 37-69%, मांससार 12-16%, सूत्र 23-25% होते हैं। इनके अतिरिक्त एमाइलेज, इनवर्टेज आदि अनेक किण्वतत्त्व होते हैं। बीजों में एक अलब्युमिनजातीय राइसिन (**Ricin**) नामक विषाक्त तत्त्व होता है। इसके प्रभाव से वमन, उदरशूल, महास्रोत में विक्षोभ एवं रक्तस्राव, तन्द्रा, आक्षेप, शोथ तथा हृदयावसाद तथा अन्य लाक्षणिक उपचार किये जाते हैं।

इससे अतिरिक्त, राइसिनिन (**Ricinine**) नामक एक मन्द विषाक्त द्रव्य भी पाया जाता है जो जल-विलेय होता है तथा बीजावरण, पत्र तथा काण्ड में अवस्थित होता है। यह किंचित् तिक्त तथा कण्ठ के लिए क्षोभक होता है। तैल ऐवसोलुट अलकोहल तथा ग्लेसियल एसिटिक अम्ल में विलेय होता है। इसमें मुख्यतः राइसिन ओलिक अम्ल होता है।

वक्तव्य — इसका तैल मुख्यतः दो प्रकार में प्राप्त किया जाता है :-

1. शीतविधि — इसमें गर्म किये बिना बीजों को दबारक तैल निकाल लिया जाता है। यह तैल रंगहीन या हल्का पीला, गन्धरहित तथा किंचित् कटुरस वाला होता है।

2. उष्णविधि — इसमें बीजों को पानी में उबालकर या दबाने के समय कुछ गर्म करके तैल प्राप्त किया जाता है। ताप से शीघ्र द्रवीभूत होने से इस विधि के द्वारा तैल अधिक मात्रा में प्राप्त होता है।

14.6.5 गुण

गुण — स्निग्ध, तीक्ष्ण, सूक्ष्म रस — मधुर, अनुरस—कटु, कषाय
— मधुर वीर्य — उष्ण

विपाक

14.6.6 कर्म

दोषकर्म — उष्णवीर्य होने से यह कफवातशमन है। साम वात के लिए एरण्ड तैल प्रसिद्ध है।

संस्थानिक कर्म — बाह्य — वातहर होने से यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान — वातशामक और बल्य होने से यह वेदनास्थापन, मेध्य और अंगमर्दप्रशमन है।

पाचनसंस्थान — यह उष्ण होने से दीपन, तीक्ष्ण होने से भेदन, कृमिघ्न और कृमिनिःसारक तथा स्निग्ध होने से स्नेहन है। यह प्रसिद्ध आमशोधन है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृद्य और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान — उष्ण और तीक्ष्ण होने से कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान — तीक्ष्ण होने के कारण यह मूत्रविशोधन है।

प्रजननसंस्थान — मधुरस्निग्ध होने से वृष्य, स्तन्यजन्य और तीक्ष्ण होने से शुक्रशोधन तथा गर्भाशयशोधन है।

सात्मीकरण — मधुरस्निग्ध होने से यह बल्य, वयःस्थापन और विषघ्न भी है।

त्वचा — यह कुष्ठघ्न एवं वर्ण्य है।

तापक्रम — उष्ण होने से यह स्वेदोपग और कुष्ठघ्न है।

उत्सर्ग — स्वेदजनन और आमपाचन होने से ज्वरघ्न है।

14.6.7 प्रयोग

यह कफवातविकारों में प्रयोग किया जाता है। कमर दर्द, आमवात, गृध्रसी (*sciatica*), पार्श्वशूल के लिए यह अत्यन्त लाभकर है। यह नाड़ियों की दुर्बलता को दूर करता है। जोड़ों की सूजन, गठिया (*gout*), चर्मरोग, स्तनशोथ, कण्ठशोथ आदि शोथवेदनायुक्त रोगों में पत्ते गरम कर बाँधते हैं या एरण्ड तैल को गर्म करके मालिश करते हैं। वेदनास्थापन और बल्य होने से इसका प्रयोग नाडीशूल, पक्षाघात (*paralysis*), अर्दित (*facial paralysis*), कम्पवात, आमवात, गृध्रसी आदि वातविकारों तथा सिरदर्द आदि में किया जाता है। यह अंगमर्द (शरीर में टूटन सी होने की दशा में), तथा हृदय की वेदना में भी आदि रोगों में प्रयोग किया जाता है। इसका प्रयोग उदररोग, उदर शूल, गुल्म, प्लीहावृद्धि, यकृत की सूजन, बवासीर और कृमिरोग में करते हैं। कफघ्न होने से कास और श्वासकष्ट में लाभ करता है। मूत्र में दाह और बस्तिशूल (मूत्राशय में पीड़ा होने की दशा में) में देने से वेदना शान्त होती है और मूत्र भी साफ होता है। इसका प्रयोग शुक्रमेह, शुक्रविकार में लाभ देता है। दूध पिलाने वाली स्त्रियों में स्तन्यदोष दूर करने के लिए तथा योनि के विभिन्न रोगों में लाभकर है। कुष्ठ रोग तथा त्वचा के विकारों में लाभकर है, ज्वर में भी लाभ करता है।

14.6.8 सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है। एरण्ड के पत्रांकुर को जल में पीस छानकर सर्पदंश वाले रोगी को पिलाते हैं। इससे वमन और विरेचन के द्वारा विष निकल जाता है। कल्क को दंशस्थान पर बाँधते भी हैं। यह रोग वत्सनाभ और अहिफेन के विष में भी लाभकर है।

14.6.9 प्रयोज्य अंग — मूल, पत्र, बीज, तैल।

14.6.10 मात्रा — मूलकल्क 10-20 ग्राम, बीज 2-6 दाने; तैल 4-16 मि०लि०।

14.6.11 विशिष्ट योग — एरण्डपाक, एरण्डमूलादि क्वाथ, एरण्डसप्तक क्वाथ।

14.7 निर्गुण्डी

14.7.१ नाम — लै०—वाइटेक्स निगण्डो (*Vitex negundo.*) सं०—निर्गुण्डी (निर्गुडति शरीरं रक्षति रोगेभ्यः—जो रोगों से शरीर की रक्षा करे); हि०—सम्हालू; म०—निगड, निर्गुण्डी; गु०—नगद, बं०—निशिन्दा; ते०—तेल्लावाविलीख ता०—नौची; मल०—इन्द्राणी; क०—बाइलनेक्की; अ०—अस्लक; फा०—पंजंगुस्त; अं०—फाइव—लीव्ड चेस्ट (**Five-leaved chaste**)

कुल — निर्गुण्डी—कुल (वर्बिनेसी—*Verbenaceae*)।

गण — विषघ्न, क्रिमिघ्न (च०); सुरसादि गण (सु०)।

14.7.2 स्वरूप — यह एक झाड़ीनुमा वनस्पति है, जिसमें तेज गंध होती है। इसका झाड़ीदार पौधा 6-12 फीट ऊँचा, तने पर बारीक रोम होते हैं। पत्र—दिखने में अरहर की पत्तियों के समान खंडित या अखंडित महीन रोमों से युक्त होते हैं। एक वृन्त पर तीन से पाँच भाल के आकार के या लंबाग्र 2-6 इंच लम्बे और $\frac{1}{2}$ - $1\frac{1}{3}$ इंच चौड़े पत्रक होते हैं। पत्रक वृन्तयुक्त होते हैं। पत्तियों को मसलने पर एक विशेष गन्ध आती है। **पुष्प** — 2-8 इंच लम्बी मंजरियों में छोटे, गुच्छेदार, सफेद या नीलाभ फूल लगते हैं। पुंकेसर—4 तथा गर्भाशय 2-4 कोष्ठयुक्त होता है। **फल** — गोलाकार, .12 इंच व्यास के होते हैं जो पकने पर काले हो जाते हैं। **बीज** — अनेक रंगों के चिकने, आयताकार बीज चित्रित होते हैं। बीजों का छिलका कठोर होता है।

जाति — निघंटुओं में इसकी नीलपुष्पी और श्वेतपुष्पी दो जातियाँ बतलाई गई हैं। नीलपुष्पी का नाम निर्गुण्डी तथा श्वेतपुष्पी का नाम सिन्दुबार दिया है।

14.7.३ उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारतवर्ष में होता है तथा विशेषकर उष्ण प्रदेशों में सभी जगह पाया जाता है।

14.7.4 रासायनिक संघटन — पत्र में सुगंधित उड़नशील तैल और राल होती है। फल में अम्ल राल, कषाय, कार्बनिक अम्ल, सेवाम्ल, एक क्षारतत्त्व और रंग होते हैं।

14.7.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष रस — कटु विपाक — कटु, तिक्त वीर्य — उष्ण

14.7.6 कर्म

दोषकर्म — उष्णवीर्य होने से यह कफवातशमन है।

संस्थानिक कर्म — बाह्य — यह वेदनास्थापन, शोथहर, व्रणशोधन, व्रणरोपण, केश्य तथा जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर—नाड़ीसंस्थान — वातनाशक होने से यह वेदनास्थापन एवं मेध्य है।

पाचनसंस्थान — कटु—तिक्त और उष्ण होने के कारण यह दीपन, आमपाचन, यकृततेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान — कफवातशामक होने से यह शोथहर है (सिन्दु शोथं वारयति इति सिन्दुवारः)।

श्वसनसंस्थान — कटुतिक्त होने के कारण यह कफघ्न और कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान — यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान — उष्ण होने से यह आर्तवजनन है।

त्वचा — यह कुष्ठघ्न एवं कण्डूघ्न है।

तापक्रम — आमपाचन होने से यह ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वर—प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण — यह बाल्य और रसायन है।

नेत्र — यह चक्षुष्य है तथा दृष्टिशक्ति को बढ़ाता है।

कर्ण — कर्णस्राव को दूर करता है।

14.7.7 प्रयोग

इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं। आमवात, जोड़ों की सूजन और दर्द की दशा में, सिरदर्द, पुरुषों में अण्डशोथ आदि रोगों में इसके पत्तों को गरम करके बाँधने से लाभ मिलता है। ऐसी दशाओं में इसका उपनाह या पुल्टिस भी बाँधते हैं। इसके क्वाथ से कटि—स्नान कराने से गर्भाशय के शोथ, पक्वाशय के शूल, वृषणशोथ तथा गुदा की सूजन आदि में लाभ होता है। गले के दर्द और मुखपाक में इसके क्वाथ का गंडूष देते हैं। सूखे पत्तों के धूपन से सिरदर्द तथा जुकाम में लाभ होता है। इसके तैल का प्रयोग व्रणों को ठीक करता है। सिर के बाल असमय सफेद होने की दशा में इसके तैल का प्रयोग लाभ करता है। उदर के कृमिरोग, भूख कम लगने, यकृत की सूजन, भोजन का पाचन ना होने और तिल्ली की सूजन में इसके पत्तों के रस को गोमूत्र के साथ देने से लाभ होता है। मस्तिष्क की दुर्बलता में भी यह लाभदायक है। कफ को दूर करने की इसमें क्षमता होती है। यह कास, फेफड़ों की सूजन दूर करता है। फुफुसावरणशोथ में भी इसका प्रयोग होता है। इसके प्रयोग से सर्वांगशोथ में लाभ होता है। रजःकृच्छ्र और सूतिकारोग में इसका प्रयोग करते हैं। त्वचा के रोगों यथा खुजली, फोड़े—फुंसी में लाभ करता है। ज्वरों में इसके पत्तों का रस

दिया जाता है। कर्णरोगों में इसके पत्तों का तैल डाला जाता है। नेत्ररोगों में इसके पत्तों के रस को डालने से लाभ होता है।

14.7.8 सात्मीकरण — यह रसायन होने के कारण सामान्य दौर्बल्य में उपयुक्त है।

14.7.9 प्रयोज्य अंग — पत्र, मूल, बीज।

14.7.10 मात्रा — पत्रस्वरस 10-20 मि०लि०; मूलत्वक् चूर्ण 3-6 ग्रा०; बीजचूर्ण 3-6 ग्रा०।

14.7.11 विशिष्ट योग — निर्गुण्डीकल्प, निर्गुण्डीतैल।

अहित प्रभाव — इसके अतियोग प्रभावों के निवारण के लिए बबूल गोंद और कतीरा का प्रयोग करते हैं।

वक्तव्य — निर्गुण्डी के बीज रेणुका या हरेणुका के नाम से भी जाने जाते हैं।

इसकी एक अन्य प्रजाति *V. trifolia* भी निर्गुण्डी के नाम से प्रचलित है। इसके त्रिपत्रक युक्त पत्तों में वृन्त नहीं होते हैं।

14.8 देवदारु

14.8.1 नाम — इसको लैटिन भाषा में सेड्रस देवदारु (*Cedrus deodara*) कहते हैं। संस्कृत में इसके नाम देवदारु (देवताओं के प्रदेश—हिमालय—में होने वाली लकड़ी) व भद्रदारु (श्रेष्ठ वृक्ष) हैं। हिन्दी में इसे देवदार, मराठी व गुजराती में देवदार; पंजाबी में दियार; कन्नड़ में दीवदार; बांग्ला में देवदारु; तामिल में देवदारु; तेलुगु में देवदारु और अंग्रेजी में देवदार (*Deodar*) कहते हैं।

कुल — सरल—कुल (पाइनेसी—*Pinaceae*)।

गण — स्तन्यशोधन, अनुवासनोपग, कटुकस्कन्ध (च०); वातसंशमन (सु०)।

14.8.2 स्वरूप — इसका वृक्ष बहुत बड़ा होता है। यह 100 से 200 फीट ऊँचा होता है। 250 फीट ऊँचे वृक्ष तक पाये गये हैं। इसका तना सीधा और परिधि में अकसर 30-35 तक होता है। इसकी शाखायें नीचे की ओर झुकी हुई होती हैं। ऊपर की ओर शाखायें क्रमशः छोटी हो जाती हैं जिससे वृक्ष को दूर से देखने पर एक त्रिभुज जैसी आकृति दिखाई देती है। तने की छाल मोटी होती है और लम्बाई में रेखाओं से युक्त होती है इसमें अनुप्रस्थ दरारें होती हैं। **पत्र** — हरे रंग के पत्ते सुई के आकार के, लम्बे और नुकीले होते हैं। ये लगभग 3-5 वर्षों तक स्थायी रहते हैं। **पुष्प** — प्रायः 3-4 इंच लम्बे लालिमा लिए भूरे रंग के होते हैं, जिनके बाहर बारीक चूर्ण सा रहता है। **फल** — 4-5 इंच लंबे तथा 3-4 इंच चौड़े, ऊपर की ओर उठे हुए होते हैं। फलों का ऊपरी भाग गोलाकार होता है तथा इनमें अनेक शल्क होते हैं। शल्कों का किनारा पतला होता है। बीज ¼ इंच लम्बे हलके भूरे होते हैं तथा इनकी पंख जैसी आकृति बीज से लंबी होती

है। यह आकृति में त्रिकोण आकार का होता है। अक्टूबर के महीने में फल निकलते हैं और एक वर्ष के बाद फल पकते हैं। देवदार का वृक्ष की आयु प्रायः 600 वर्ष तक होती है।

14.8.3 उत्पत्तिस्थान — यह पश्चिमोत्तर हिमालयी क्षेत्र में 3500 से 12 हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

14.8.4 रासायनिक संघटन — देवदार की लकड़ी से एक रक्ताभ भूरे रंग का गन्धयुक्त तेल निकलता है जिसका मुख्य घटक एक सेस्क्वीटर्पीन (Sesquiterpene) होता है।

14.8.5 गुण

गुण — लघु, स्निग्ध रस — तिक्त विपाक — कटु वीर्य — उष्ण

14.8.6 कर्म

दोषकर्म — यहा तिक्त एवं उष्ण वीर्य होने से कफ का तथा स्निग्ध एवं उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म — बाह्य — इसका बाह्य लेप शोथहर, वेदनास्थापन, कुष्ठघ्न, कृमिघ्न, व्रणशोधन एवं व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान — वातनाशक होने से यह प्रमुख वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान — तिक्त होने से दीपन-पाचन तथा कृमिघ्न एवं स्निग्ध होने से अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान — उष्णवीर्य होने से यह हृदयोत्तेजक एवं तिक्त होने से रक्तप्रसादन है। शोथ को भी नष्ट करता है।

श्वसनसंस्थान — यह स्निग्ध और तिक्त होने से कफनिःसारक तथा सुगन्धि होने से श्लेष्मपूतिहर है। कफवातशमन होने से हिक्कानिग्रहण भी है।

मूत्रवहसंस्थान — उष्ण-स्निग्ध होने से मूत्रजनन तथा तिक्त होने से प्रमेहघ्न है। इसके सेवन से मूत्रगत अनेक दोष नष्ट होते हैं।

प्रजननसंस्थान — उष्ण होने से गर्भाशय-शोधन तथा तिक्त होने से स्तन्यशोधन है।

सात्मीकरण — कटुविपाक होने से यह लेखन है और शरीर के स्थौल्य को दूर करता है।

त्वचा — यह स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम — स्वेदजनन तथा पाचन होने के कारण यह ज्वरघ्न है।

14.8.7 प्रयोग

यह कफवातजन्य विकारों से प्रयुक्त होता है। यह बहुत अच्छा वातशामक है और सूजन व दर्द को कम करता है। इसके प्रयोग से जोड़ों का पुराना दर्द, सन्धिवात, आमवात (rheumatoid arthritis), गृध्रसी (sciatica), शिरःशूल आदि ठीक हो जाते हैं। सूजन और दर्द वाली व्याधियों में इसका

प्रयोग लाभ देता है। यह व्रणों को भी ठीक करता है। इसका तैल चर्मरोगों में भी अच्छा लाभ करता है। आमदोष के पाचन के लिए इसका प्रयोग होता है। इसके अलावा यह अफारा, कब्ज में लाभ करता है, इससे पेट के कीड़े भी मरते हैं। हृदय के लिए यह उत्तेजक है इस कारण हृद्वैर्बल्य में प्रयोग किया जाता है। यह रक्तशोधक है इस कारण रक्तविकारों में इसका प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त यह शोथ, गलगण्ड (cervical lymphaginitis) हृद्वैर्बल्य तथा श्लीपद(elephantiasis) में भी लाभकर है। उपदंश (syphilis) में इसका तैल प्रयुक्त होता है। पुरानी खांसी और पीनस अर्थात् पुराने जुकाम में इसका प्रयोग किया जाता है। इससे दूषित कफ बाहर निकल जाता है और बलगम की दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है। लगातार हिचकी आने की स्थिति में भी इससे लाभ होता है। मूत्रदाह, पूय के संक्रमण तथा प्रमेह में यह प्रयुक्त होता है। स्तन्यदोष और सूतिकारोग में इसका प्रयोग करते हैं। यह पुराने बुखार को भी ठीक करता है।

14.8.8 सात्मीकरण — लेखन होने के कारण मेदोरोग में यह उपयोगी है।

14.8.9 प्रयोज्य अंग — काण्डसार अर्थात् तने का सार और तैल।

14.8.10 मात्रा — चूर्ण 3-6 ग्रा०; तैल 20-40 बूँद।

14.8.11 विशिष्ट योग — देवदारवादि क्वाथ, देवदारवादि चूर्ण।

14.9 शल्लकी

14.9.1 नाम — इसका लैटिन नाम बॉसवेलिया सेर्रेटा (*Boswellia serrata*) है। इसे संस्कृत में शल्लकी (इससे सुगन्धित स्राव निकलता है इस कारण से), गजभक्ष्या (इसकी पत्तियाँ हाथी बड़े चाव से खाते हैं) कहते हैं। इसका हिन्दी नाम सलई है। इसे मराठी में सालई; गुजराती में सालेडो, धूपडो, तामिल व तेलुगु में पंगिसंव्रनी; कन्नड़ में मडी तथा अंग्रेजी में इण्डियन ओलिवेनम ट्री (Indian Olibanum tree) कहते हैं।

कुल — गुग्गुलु-कुल (बसरसी-Burseraceae)।

गण — पुरीषविरजनीय, कपायस्कन्ध, शिरोविरेचन (च०); रोध्रादि, एलादि, कषायस्कन्ध (सु०)।

14.9.2 स्वरूप — इसका वृक्ष ऊँचाई में मध्यमप्रमाण का होता है इसका तना, 3-5 फीट मोटा होता है। तने की छाल हरे भूरे रंग की होती है, इसमें कुछ लालिमा भी होती है। छाल सुगन्धित होती है, वृक्ष से पतले छिलकों की तरह छूटती हुई प्रतीत होती है। **पत्र** — नीम के समान, 12-18 इंच लम्बे होते हैं जिनमें 9-16 जोड़े पत्रक होते हैं। ये पत्रक एक दूसरे के सामने लगे होते हैं।

$1\frac{1}{2}$ -3 इंच लम्बे पत्रक मांसल व दांतेदार होते हैं। **पुष्प** — छोटे, सुगन्धित और

श्वेतवर्ण शाखाओं के अग्रभाग पर कोणीय मंजरियों में लगते हैं। फूल की बाहरी पंखुड़ियां 5-6 खण्डयुक्त होती हैं। अन्दरूनी दल .25 इंच लंबे, आयताकार—लट्टू के आकार के, स्थूलाधार होते हैं, मण्डलक (Disc) बैंगनी रंग का मांसल, होता है। इसमें परागकोष पंखवत् होते हैं। फल $\frac{1}{2}$ इंच व्यास का, त्रिकोण होता है जिसमें तीन कपाट और तीन कड़े बीज होते हैं। बीजों में पंख जैसी आकृति लगी होती है। इसमें जनवरी—मार्च में फूल आते हैं। जिस समय फूल आते हैं तब प्रायः वृक्ष पर पत्ते नहीं होते हैं। जनवरी—मार्च में फल लगते हैं। इसकी एक प्रजाति *Var. glabra* होती है जिसमें पत्ते चिकने और अखण्ड होते हैं।

इसकी छाल में चीरा लगाने से एक स्राव (oleo-gum resin) निकलता है जो जमकर गोंद के जैसा हो जाता है। इसे संस्कृत में कुन्दुरु; हिन्दी में कुन्दुरु कहते हैं। इसे पानी में घोंटने पर दूध जैसा मिश्रण तैयार होता है।

जाति — यूनानी वैद्यक में आकृति और वर्ण के भेद से कुन्दुरु पाँच प्रकार का माना जाता है :— (1) नरकुन्दुर—इसके रक्ताभ पीले या भूरे रंग के, गोल दाने होते हैं। (2) मादा कुन्दुर—इसके दाने कुछ बड़े ओर पीले रंग के होते हैं। (3) गोल कुन्दुर—इसके दाने सुडौल गोल होते हैं। (4) किशार कुन्दुर—इससे पर्पटी जैसे आकार का निर्यास निकलता है। (5) दुक्राक कुन्दुर—इसका निर्यास चूर्णरूप होता है। औषध में पीताभ और गोल निर्यास लेना श्रेयस्कर है।

14.9.3 उत्पत्तिस्थान — यह मध्यप्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा, दक्षिण भारत तथा गुजरात के वनों में पाया जाता है।

14.9.4 रासायनिक संघटन — कुन्दुरु में आर्द्रता 10-11, उड़नशील तैल 8-9, राल 55-57, गोंद 20-23 तथा अविलेय पदार्थ 4-5 प्रतिशत होते हैं। उड़नशील तैल (Boswellia oil) तारपीन तेल के समान होता है। राल (Rosin) सुनहरे या गहरे भूरे रंग का होता है।

14.9.5 गुण

गुण — लघु, रूक्ष रस — कषाय, तिक्त, मधुर विपाक — कटु वीर्य — उष्ण

14.9.6 कर्म

दोषकर्म — यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म — बाह्य — यह शोथहर, वेदनास्थापन, दुर्गन्धनाशन, जन्तुघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण और चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर—नाड़ीसंस्थान — यह मेध्य है।

पाचनसंस्थान — कुन्दुरु दीपन, पाचन ग्राही, वातानुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान — यह हृद्य और रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान — यह कफनिःसारक तथा श्लेष्मपूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान — मूत्रल है

प्रजननसंस्थान — वृष्य है।

त्वचा — स्वेदजनन है।

तापक्रम — ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण — कटु पौष्टिक है।

14.9.7 प्रयोग

यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है। पार्श्वशूल, गंडमाला और जोड़ों की सूजन में आदि में इसका गरम लेप करते हैं। पुराने घावों तथा, प्रमेहपिड़िकाओं आदि में इसका मलहम लगाते हैं। दिमागी कमजोरी में इसका प्रयोग लाभ करता है। नेत्र रोगों में शहद के साथ इसका अंजन कराने से लाभ होता है। यह अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी रोगों में लाभ करता है, पेट फूलने की दशा में, भूख कम लगने पर तथा बवासीर में फायदा करता है। यह पित्तशामक है अतः मल के वर्ण के दोष को ठीक करता है। मुख से यदि दुर्गन्ध आती हो तो यह उसे दूर करता है। यह हृदय की दुर्बलता में लाभकर है। पुरानी खांसी तथा श्वासरोग में लाभदायक है, रक्तपित्त को भी ठीक करता है। मूत्र के दाह में उपयोगी है, मूत्र के संक्रमण को ठीक करता है। यह पुराने बुखार में लाभ देता है और त्वचा के विकारों को भी ठीक करता है। प्रदर व शुक्रदौर्बल्य में लाभकर है।

14.9.8 सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य में प्रयोग करते हैं।

14.9.9 प्रयोज्य अंग — त्वक्, निर्यास (कुन्दुरु)।

14.9.10 मात्रा — त्वक्क्वाथ 50-100 मि०लि०; निर्यास 1-3 ग्रा०।

विषेश — बाहर से जो द्रव्य कुन्दुरु नाम से आता है वह अरब, अफ्रीका में होने वाली प्रजाति (बॉस्वेलिया फ्लरिवण्डा—*Boswellia floribunda*) का गोंद होता है।

14.10 हड़जोड़ (अस्थिशृंखला)

14.10.1 नाम — इसका लैटिन नाम सिसस क्वैड्रैङ्गुलेरिस (*Cissus quadrangularis*) है। इसे संस्कृत में अस्थिशृंखला, अस्थिसंहारी, वज्रवल्ली आदि नामों से जाना जाता है, इसे हिन्दी में हड़जोड़ तथा अंग्रेजी में एडिबुल—स्टेम्ड वाइन (Edible – stemmed vine) कहते हैं।

कुल — द्राक्षा — कुल — (वाइटेसी — Vitaceaeectin)।

14.10.2 स्वरूप — इसकी पेड़ों पर चढ़ने वाली लम्बी बेल पर कई पर्व या पोर होती हैं। इसका तना हरा और चतुश्कोण होता है जिसमें बीच-बीच में पर्व होते हैं जिससे यह देखने में शृंखला या कड़ी के समान प्रतीत होता है। पत्ते कम होते हैं जो 1-2 इंच लंबे होते हैं, पत्तों का आकार हृदय के समान होता है। पत्ते कभी-कभी 3-5 भागों में विभक्त,

दातेदार होते हैं। पुष्प— हरित आभा वाले सफेद रंग के रोमयुक्त छोटे छोटे फूल छोटी मंजरियों में लगे होते हैं। फल— लाल रंग के रसीले गोल एकबीजी फल मटर के बराबर होते हैं। वर्षाऋतु में फूल तथा शीतकाल में फल होता है। लता का एक पर्व जमीन में गाड़ देने पर नया पौधा उग जाता है। श्रीलंका तथा दक्षिण भारत में इसके तने की सब्जी खाई जाती है।

14.10.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत के उष्ण प्रदेशों में होता है।

14.10.4 रासायनिक संघटन — इसके शुष्क पौधे में आर्द्रता 13.1, प्रोटीन 12.8, वसा 1, सूत्र 15.6, कार्बोहाइड्रेट 36.6, राख 18.2 म्युसिलेज तथा पेक्टिन 1.2 प्रतिशत होता है। विटामिन सी प्रचुर होता है। इसकी राख में सोडियम, पोटेशियम, मैगनेशियम और कैल्शियम के कार्बोनेट एवं फास्फेट होते हैं। ताजे तने में कैल्शियम आक्जलेट के कण होते हैं।

14.10.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — कफपैक्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है। अस्थियों के टूटने पर बाहर से लेपकर खपच्चियों से बांधने से टूटी हड्डियां जुड़ जाती हैं। अस्थिभग्न में इसका आभ्यंतर प्रयोग भी किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में जानकार लोग जानवरों की टूटी हड्डियों को जोड़ने के लिए भी हड़जोड़ का प्रयोग करते हैं।

14.10.6 सात्मीकरण — अस्थिभग्न, मांसक्षत तथा उरःक्षत आदि में प्रयुक्त होता है। इसके प्रयोग से टूटी हड्डियां शीघ्र जुड़ जाती हैं।

14.10.7 प्रयोज्य अंग — त्वक् अर्थात् तने की छाल।

14.10.8 मात्रा — चूर्ण 3-६ ग्राम, क्वाथ 25-50 मि०लि

14.11 लज्जालु या छुईमुई

14.11.1 नाम — लैटिन — माइमोसा प्युडिका (*Mimosa pudica*)

संस्कृत — लज्जालु, नमस्कारी, शमीपत्रा (पत्र शमी के पत्तों की तरह दिखते हैं)

हिन्दी — लज्जालु, लजौनी, लज्जावन्ती, छुईमुई

अंग्रेजी — सेन्सिटिव प्लाण्ट (Sensitive plant)।

कुल — शिम्बी — कुल — (लेग्युमिनोसी— Leguminosae)।

14.11.2 स्वरूप — इसकी फैलने वाली झाड़ी 2-4 फीट ऊँची होती है। इसमें कांटे होते हैं, यह जमीन पर रेंगकर फैलने वाला पौधा है। इसके पत्ते द्विपक्षवत अर्थात् दोनों ओर पंख जैसे लगे हुए होते हैं। पक्ष संख्या में 2-4 होते हैं जो हाथ की तरह निकले रहते हैं। पत्रक— 10-20 जोड़े होते हैं,

जो देखने में खैर के पेड़ के पत्तों की तरह दिखते हैं। स्पर्श से पत्तियां संकुचित होकर बंद हो जाती हैं, इसलिए इसे लज्जालु कहते हैं। इसकी यह मुद्रा नमस्कार जैसी प्रतीत होती है इसलिए इसे नमस्कारी नाम भी दिया गया है। पत्र के कोण से निकलने वाले पुष्पदण्ड के अगले भाग पर गोलाकार गुलाबी रूई के समान दिखने वाला मुलायम पुष्पमुंडक होता है। पुंकेसर— संख्या में चार, बहुत बड़े होते हैं। फली— लंबी होती है जिसकी सेवनियों पर पतले भूरे रंग के कांटे होते हैं। प्रत्येक फली में 3-5 तक बीज होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

जाति — इस प्रजाति में अनेक रूप के पौधे मिलते हैं। मुख्यतः तीन भेद हैं:—

- 1) Var. *hispida*
- 2) Var. *tetranda*
- 3) Var. *unijuga*

14.11.3 उत्पत्तिस्थान — यह पौधा मूलरूप से ब्राजील का पौधा है और अब भारत के समस्त गर्म क्षेत्रों में पाया जाता है।

14.11.4 रासायनिक संघटन — इसके मूल में 10 प्रतिशत टैनिन तथा 55 प्रतिशत भस्म होती है। इसमें माइमोसिन Mimosine नामक विषाक्त क्षाराभ (alkaloid) भी होता है। बीजों में म्युसिलेज होता है तथा इनसे 17 प्रतिशत हरे पीले रंग का तेल निकलता है।

14.11.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है। आघात के कारण मांस फटने पर इसका प्रयोग लाभकर है। अस्थियों के टूटने पर बाहर से लेप करने से भी लाभ होता है, आभ्यंतर प्रयोग से भी भग्न में शीघ्र लाभ होता है।

14.11.6 सात्मीकरण — धातुओं के क्षत तथा भग्न में इसका प्रयोग करते हैं। सर्पविश में देते हैं। इसके प्रयोग से टूटी हड्डियां शीघ्र जुड़ जाती हैं।

14.11.7 प्रयोज्य अंग — पंचांग, मूल

14.11.8 मात्रा — स्वरस 10-20 मि०लि०।

14.12 वनपलाण्डु

14.12.1 नाम — लैटिन — अर्जिनिया इण्डिका (*Urginea indica*)

संस्कृत — वनपलाण्डु, कोलकन्द

हिन्दी — जंगली प्याज

अंग्रेजी — इण्डियन स्क्विल (Indian squill)।

कुल — रसोन — कुल — (लिलिएसी— Liliaceae)।

14.12.2 स्वरूप — इसका पौधा सुदर्शन के पौधे के समान दिखता है। इसका एक से ढाई फीट ऊँचा पुष्पध्वज पत्ते निकलने के पहले ही निकल जाता है। पत्ते— 6–18 इंच लंबे और आधे से एक इंच चौड़े होते हैं, ये चपटे, रेखाकार, अगले सिरे पर तीक्ष्ण होते हैं। पुष्पध्वज पर दूर-दूर पर 4–8 फूल लगते हैं, पुष्पमंजरी 6–12 इंच लंबी होती है जिसपर फूल निकलते हैं। पुष्प— हरी आभा वाले सफेद फूल लगते हैं। आधे से पौन इंच के फल अण्डाकार या आयताकार होते हैं जिनमें 6–9 चपटे, काले रंग के बीज होते हैं। फूल मार्च से मई के बीच में और मई से जुलाई के बीच में फल लगते हैं। इसका कन्द सेव के समान, गोलाकार—अण्डाकार लंबी ग्रीवा सहित भूरे रंग के मॉसल पत्तों से ढंका रहता है, कन्द में कोई गन्ध नहीं होती यह गन्धहीन होता है।

14.12.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत में पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में 6000 हजार फीट की ऊँचाई तक कोरोमण्डल, कोंकण, छोटा नागपुर में अधिक होता है।

14.12.4 रासायनिक संघटन — इसमें Scillaren A और Scillaren B ये दो ग्लाइकोसाइड पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त पिच्छिल द्रव्य शर्करा और भस्म 5 प्रतिशत जिसमें कैलशियम ऑक्जलेट और साइट्रेट के कण होते हैं। सिला इण्डिका (*Scilla indica*) नामक पौधा भी इससे मिलता—जुलता है। यह मध्यप्रदेश में विशेष होता है। बाजार में दोनों मिले—जुले मिलते हैं। सिला इण्डिका के कन्द की ग्रीवा कुछ मोटी होती है।

14.12.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। जोड़ों के दर्द में लाभकर है।

14.12.6 सात्मीकरण — कैंसर में इसके कंद का प्रयोग लाभकर है। विष के प्रभाव को दूर करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। यह जोड़ों के दर्द में अच्छा लाभ करता है।

14.12.7 प्रयोज्य अंग — कन्द

14.12.8 मात्रा — चूर्ण 120–200 मि०ग्रा०, पानक 30–60 बूंद, सुरासत्त्व 5–30 बूंद।

अभ्यास प्रश्न :—

प्रश्न 1— लज्जालु का लैटिन नाम बताइये।

प्रश्न 2— गुग्गुलु के अधिक काल तक सेवन व अतियोग से क्लैव्य व षिथिलता उत्पन्न हो जाती है।

उत्तर —.क— सत्य,

ख— असत्य

प्रश्न 3— सेन्सिटिव प्लाण्ट (Sensitive plant) निम्न में से किसका अंग्रेजी नाम है ?

उत्तर —.क— देवदारू , ख— अस्थिश्रृंखला, ग— लज्जालु, घ— कुपीलु

प्रश्न 4— रास्ना का 40—50 फीट ऊँचा बड़ा पेड़ होता है।

उत्तर —.क— सत्य,

ख— असत्य

14.13 सारांश

इस इकाई में आपने गुग्गुलु, देवदारू, शल्लकी, लज्जालु, हड़जोड़, निर्गुण्डी, एरण्ड, रास्ना पदमक आदि औषधीय पौधों का अध्ययन किया। आजकल के समय में अस्थिभग्न होने पर प्लास्टर ऑफ पेरिस का उपयोग करके टूटी हुई हड्डियों और जोड़ों को एक निश्चित अवधि के लिए स्थिर कर दिया जाता है। प्राचीन काल में थोड़े समय के लिए बांस की खपच्चियों से बांधकर जोड़ों को स्थिर किया जाता था साथ ही लज्जालु व हड़जोड़ जैसी औषधियों का उपयोग किया जाता था, और अस्थियां बहुत जल्दी जुड़ जाया करती थीं। अब भी केरल व तमिलनाडु में कुछ जगह हड्डियों के टूटने पर पुरानी पद्धति से चिकित्सा की जाती है और बेहतर परिणाम मिलते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि विश्वास के साथ इनका प्रयोग किया जाय। हमने अपने चिकित्साभ्यास के दौरान देखा है कि सधिवात, आमवात, गठिया आदि के जो रोगी ऐलोपैथिक दवाएं लेते हैं उन्हें कुछ समय के लिए राहत तो मिल जाती है पर इन दवाओं के बहुत बड़े दुष्प्रभाव भी उन्हें झेलने पड़ते हैं। यदि रास्ना, एरण्ड, निर्गुण्डी, शल्लकी आदि आसानी से उपलब्ध औषधियों से उनका उपचार किया जाय तो रोग का भी निवारण होगा और हाइपरएसिडिटी, पेप्टिक अल्सर, गुर्दे पर होने वाले दुष्प्रभावों से भी बचा जा सकता है। आशा है इस इकाई में दी गई जानकारी से लाभ लेकर आप सामान्य रोगों में परामर्श भी दे सकते हैं।

14.14 शब्दावली :-

हि०— हिन्दी, अ०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, ब०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम,

मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर,
लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।

च०—चरकसंहिता, अ०सं०—अष्टांगसंग्रह, अ०हृ०—अष्टांगहृदय,
चक्र०—चक्रदत्त, आ०वि०—आयुर्वेद विज्ञान, भा०प्र०—भावप्रकाश,
भै०र०—भैषज्यरत्नावली, र०त०—रसतरंगिणी, शा०सं०—शारंगधरसंहिता,
सु०सं०—सुश्रुतसंहिता, हा०—हारीतसंहिता, सि०भे०म०—सिद्धभेषजमणिमाला,
यो०र०—योगरत्नाकर।

14.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. *Mimosa pudica* ,
2. क— सत्य ,
3. ग— लज्जालु
4. ख— असत्य

14.16 सन्दर्भ ग्रन्थ :-

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु,
सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, द्रव्यगुण संग्रह—आचार्य प्रियव्रत
शर्मा Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's
Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New
Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976,
Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

14.17 निबंधात्मक प्रश्न :-

1. अस्थिशृखला के पौधे का स्वरूप का वर्णन करते हुए व प्रयोग बताइये।
2. देवदार का वर्णन करते हुए उत्पत्ति स्थान तथा प्रयोग बताइये।

इकाई 15 & पाचन संस्थान संबंधी व्याधिया

- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 उद्देश्य
- 15.3 हरड़
15.3.1 नाम 15.3.2 स्वरूप एवं परिचय 15.3.3 उत्पत्ति स्थान 15.3.4 गुण—कर्म
15.3.5 iz;ksx 15.3.6 प्रयोज्य अंग 15.3.7 मात्रा 15.3.8 विशिष्ट योग
- 15.4 यष्टीमधु
15.4.1 नाम 15.4.2 स्वरूप एवं परिचय— 15.4.3 उत्पत्ति स्थान 15.4.4 गुण—कर्म
15.4.5 दोषकर्म 15.4.6 प्रयोज्य अंग 15.4.7 मात्रा 15.4.8 विशिष्ट योग
- 15.5 आंवला (आमलकी)
15.5.1 नाम 15.5.2 स्वरूप एवं परिचय 15.5.3 उत्पत्ति स्थान 15.5.4 गुण—कर्म
15.5.5 प्रयोज्य अंग 15.5.6 मात्रा 15.5.7 विशिष्ट योग
- 15.6 बिल्व
15.6.1 नाम 15.6.2 स्वरूप एवं परिचय 15.6.3 उत्पत्ति स्थान 15.6.4 गुण—कर्म—
रस 15.6.5 मात्रा 15.6.6 विशिष्ट योग—
- 15.7 कुटज**
15.7.1 नाम 15.7.2 स्वरूप एवं परिचय 15.7.3 गुण—कर्म— रस 15.7.4 प्रयोग 15.
7.5 मात्रा 15.7.6 विशिष्ट योग
- 15.8 नागरमोथा (मुस्तक)
15.8.1 नाम 15.8.2 स्वरूप एवं परिचय 15.8.3 गुण—कर्म— गुण 15.8.4 प्रयोज्य
अंग 15.8.5 मात्रा 15.8.6 विशिष्ट योग
- 15.9 शुण्ठी
15.9.1 नाम 15.9.2 स्वरूप 15.9.3 उत्पत्तिस्थान 15.9.4 रासायनिक संघटन 15.9.5
प्रयोग
15.9.6 प्रयोज्य अंग — कन्द 15.9.7 मात्रा
- 15.10 इसबगोल
15.10.1 नाम 15.10.2 स्वरूप एवं परिचय 15.10.3 गुण—कर्म— रस 15.10.4
प्रयोज्य अंग 15.10.5 मात्रा—
- 15.11 शरपुंखा
15.11.1 नाम 15.11.2 स्वरूप एवं परिचय 15.11.3 उत्पत्ति स्थान—15.11.4
गुण—कर्म— गुण
15.11.5 प्रयोग 15.11.6 प्रयोज्य अंग 15.11.7 मात्रा 15.11.8 विशिष्ट योग 15.12
विडंग
15.12.1 नाम 15.12.2 स्वरूप एवं परिचय 15.12.3 गुण—कर्म— रस 15.12.4 प्रयोग
15.12.5 प्रयोज्य अंग 15.12.6 मात्रा 15.12.7 विशिष्ट योग
- 15.13 कालमेघ (भूनिंब)
15.13.1 नाम 15.13.2 स्वरूप एवं परिचय 15.13.3 गुण—कर्म— गुण 15.13.4
प्रयोज्य अंग 15.13.5 मात्रा 15.13.6 विशिष्ट योग

15.14 धातकी

15.14.1 नाम 15.14.2 स्वरूप 15.14.3 उत्पत्तिस्थान 15.14.4 रासायनिक संघटन

15.14.5 प्रयोग

15.14.6 प्रयोज्य अंग — पुष्प 15.14.7 मात्रा 15.14.8 विशिष्ट योग

15.15 भूम्यामलकी

15.15.1 नाम 15.15.2 स्वरूप एवं परिचय 15.15.3 गुण—कर्म— रस 15.15.4 प्रयोग

15.15.5 प्रयोज्य अंग 15.15.6 मात्रा

15.16 सारांश**15.17 शब्दावली****15.18 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर****15.19 सन्दर्भ ग्रन्थ****15.20 निबंधात्मक प्रश्न****15.1 प्रस्तावना**

वर्तमान समय में अनियमित दिनचर्या, अनियमित खानपान, अनियमित आहार—विहार के कारण उदर रोगों से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है। उदर रोगों का एक कारण प्रदूषित खानपान भी है। खेती में रासायनिक खादों और कीटनाशकों के अंधाधुंध प्रयोग से भी यकृत प्लीहा सम्बन्धी बीमारियां बहुत बढ़ रही हैं। इंसान अपने आलस्य और अनियमित चर्या के कारण कब्ज, अजीर्ण, आध्मान, अतिसार जैसे विविध रोगों से परेशान है। इन रोगों से छुटकारा पाने के लिए बस एक ही कुंजी है। नियमित दिनचर्या, खानपान व आहार—विहार का पालन तथा कुछ गड़बड़ हो तो यष्टीमधु, कुटज, बिल्व, नागरमोथा, धाय, आमलकी व हरीतकी जैसी अन्य औषधियों का सहारा लिया जाए। पाचन संस्थान पर काम करने वाली औषधियां बहुत हैं पर स्थान की सीमा होने के कारण कुछ का विवरण दिया जा रहा है।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात हम उदर व्याधियों में उपयोगी औषधियों के बारे में जान सकेंगे। अजीर्ण, पाचन योग्य उपयोगी औषधि द्रव्यों के बारे में जान सकेंगे।

यकृत एवं प्लीहा पर कार्य करने वाली प्रमुख वनौषधि के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। यह जान सकेंगे कि इन वनौषधियों का यकृत एवं प्लीहा से संबंधित रोगों में कैसे उपयोग किया जा सकता है, यह जान सकेंगे। इन औषधियों के उत्पत्ति स्थान, स्वभाव व पर्याय के बारे में जान सकेंगे।

15.3 हरड़

15.3.1 नाम— लै०— टर्मिनलिया चैब्युला (Terminalia chebula)] सं०—हरीतकी, अभया, पथ्या, हि०— हरे, हरड़, बं०—हरीतकी, म०—हरडे, गु०—हरड़े, ता०—कदुक्काई, ते०—करक्काई, ते०—करक्काई, उ०—कारेवी, अ०—हलीलज, फा०—हलैल, अं०—चैब्युलिक माइरोबेलन (Cheublic Myrobalan).

कुल— हरीतकी कुल काम्ब्रेटेसी (Combretaceae).

15.3.2 स्वरूप एवं परिचय— यह वृक्ष जाति की वनस्पति है। वृक्ष 50 से 80 फुट ऊँचा होता है। छाल रंग में गहरी भूरी और लंबाई में अक्सर फटी हुई होती है। पत्र 3 ls 8 bap yacs] 2 ls 4 इंच चौड़े, लट्वाकार या अंडाकार होते हैं। पत्रवृत्त के ऊपर वाले हिस्से में दो बड़ी ग्रंथियाँ होती हैं। पत्रों पर 6 से 8 जोड़ी शिराएँ होती हैं। पुष्प छोटे, पीली आभा लिए सफेद रंग के होते हैं। फल अंडाकार, लंबाई दो इंच तक, कठोर होता है। इसके पृष्ठ पर पाँच रेखाएँ होती हैं। कच्चे फल रंग में हरे और पकने पर पीताभ धूसर हो जाते हैं। अप्रैल—मई में नए पत्र और पुष्प आते हैं। शीतकाल में फल लगते हैं। जनवरी से अप्रैल तक पके फलों का संग्रह किया जाता है।

जाति— इसकी प्रमुख जातियाँ निम्नलिखित हैं—

- (1) विजया— अलाबुवृत्त स्वरूप, सर्व रोगों में प्रयुक्त होते हैं, विन्ध्य में प्राप्त होती है।
- (2) रोहिणी— वृत्त स्वरूप, व्रण में उपयोगी, पैठन में प्राप्त होता है।
- (3) पूतना— सूक्ष्म अस्थिमय स्वरूप, प्रलेप के रूप में प्रयोग करते हैं, सिंध से उत्पन्न होती है।
- (4) अमृता— मांसल स्वरूप, शोधन के लिए प्रयोग, चंपा (भागलपुर) में प्राप्त होती है।
- (5) अभया— पंचरेखायुक्त स्वरूप, नेत्र रोगों में प्रयोग, चंपा (भागलपुर) में उपलब्ध।
- (6) जीवन्ती— स्वर्णवर्ण, सर्वरोगों में प्रयुक्त, सौराष्ट्र में उत्पत्ति।
- (7) चेतकी— त्रिरेखायुक्त स्वरूप, रेचन के लिए प्रयोग, हिमाचल प्रदेश में उत्पत्ति। यह दो प्रकार की होती है— (अ) श्वेत, (ब) कृष्ण। श्वेत चेतकी छः अंगुल लंबी तथा कृष्ण चेतकी एक अंगुल लंबी होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से भेद— (1) छोटी हरे (हली—स्याह), (2) पीली हरे (हलील—जर्द), (3) बड़ी हरे (हलील—काबुली)।

ये तीनों वर्ग अवस्था भेद से किए जाते हैं। कच्चे कोमल फल जो स्वयं गिर जाते हैं या तोड़कर सुखा लिए जाते हैं, वे छोटी हरे कहलाती हैं। गुठली होने के बाद प्रौढ़ावस्था में अर्द्धपक्व फल लिए जाते हैं, वे पीली हरे कहलाती हैं और परिपक्व फल बड़ी हरे कहलाती हैं।

15.3.2 उत्पत्ति स्थान— पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, अवध, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, दक्षिणी भारत, मुंबई, चेन्नई और मैसूर के वनों में, भारत के पर्वतीय प्रदेशों में 5000 फीट की ऊँचाई तक, सीलोन, ब्रह्मप्रदेश, मलाया।

15.3.3 गुण—कर्म— गुण— लघु, रूक्ष रस— पंचरस (लवण वर्जित), कषाय प्रधान

विपाक— मधुर वीर्य— उष्ण, प्रभाव— त्रिदोषहर

त्रिदोषहर (विशेषतः वातशामक), शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपण, नाडीबल्य, मेध्य, चक्षुष्य, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, अनुलोमन, मृदुरेचन, कृमिघ्न, हृद्य, शोणितास्थापन, शोथहर, कफघ्न, वृष्य, गर्भाशय शोथहर, प्रजास्थापन, मूत्रल, कृष्ठघ्न, ज्वरघ्न, रसायन।

ऋतु हरीतकी— रसायन कर्म के लिए ऋतु अनुसार अनुपान देकर इसका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है—

(1) वर्षा—सैधव, (2) शरद—शर्करा] (3) हेमंत—शुंठी, (4) शिशिर—पिप्पली] (5) बसंत—मधु, (6) ग्रीष्म—गुड़।

15.3.4 iz;ksx& खूनी बवासीर में हरीतकी क्वाथ बनाकर दिया जाता है। अर्श की सूजन को उतारने और उसकी वेदना को दूर करने के लिए इसको पानी में पीसकर लेप करते हैं। किसी भी स्थान में होने वाले रक्तस्राव को रोकने में हरड़ उत्तम है। नाखून कृष्ण और बेडोल हों और दबाने से पीड़ा होती हो तो लोहे के पात्र में बड़ी हरड़ को हल्दी के पानी के साथ घिसकर नखों पर लेप लगाएँ। ठीक होने तक प्रतिदिन लेप बदलते रहें। ग्रहणी रोग में उबालकर देते हैं। अग्निमांद्य में मुंह में रखकर चबाते हैं, विबंध में चूर्ण खाते हैं, ग्रहणी में उबालकर लेते हैं तथा त्रिदोषजन विकारों में भूनकर सेवन करते हैं।

15.3.5 प्रयोज्य अंग— फल।

15.3.6 मात्रा— 3 से 6 ग्राम।

15.3.7 विशिष्ट योग— अभयामोदक, अभयारिष्ट, पथ्यादिवटी, पथ्यादिक्वाथ, व्याघ्री हरीतकी, चित्रकहरीतकी, अगस्त्यहरीतकी, हरीतकी खंड, पथ्यादि चूर्ण, दंती हरीतकी।

15.4 यष्टीमधु

15.4.1 नाम— लै०— ग्लिसिराइड्ज़ा ग्लेब्रा (Glycyrrhiza glabra)] सं०— यष्टीमधु, हि०— मुलहठी, मुलेठी, जेठीमधु, ब०— यष्टिमधु, म०— जेष्टीमध, गु०— जेठीमध, ता०— अतिमधुरम, ते०— यष्टिमधुकम्, अ०—अस्तुसूस, फारसी—बिखेमरक, अं०—लाइकरिस ;स्पुनवतपबमद्ध।

कुल— शिंबी कुल लेग्युमिनोसी (Leguminosae).

15.4.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका क्षुप 6 फुट तक ऊँचा होता है। मूल लंबा, झुरीदार, धूसरवर्ण तथा छिलका हटाने पर पीला रेशेदार होता है। पत्र—संयुक्त, अंडाकार पक्ष 4-7 जोड़े होते हैं। पुष्प—गुलाबी या बैंगनी रंग के मंजरियों में होते हैं। शिंबी—1 इंच लंबी, चपटी होती है, जिनमें 2-3 बीज वृक्काकार होते हैं। इसका भूमिगत तना और जड़ सुखाकर प्रयोग में लाते हैं।

15.4.3 mRifRr LFkku& ;g feL=] vjc] rqfdZLrku] bZjku] vQxkfuLrku] ,f'k;k ekbu] e/; ,f'k;k :l] nf{k.k ;wjksi] phu esa gksrh gSA tEew&d'ehj] nsgjknwu vkSj fnYyh esa blds mRiknu ds fy, iz;ksx fd, x, gSaA

15.4.4 गुण—कर्म— रस— मधुर गुण— गुरू, स्निग्ध
वीर्य— शीत विपाक— मधुर

15.4.5 दोषकर्म— यह स्निग्ध, गुरू और मधुर होने के कारण वात का तथा शीत होने से पित्त को शमन करती है। दाहशामक, केश्य, वेदनास्थापन, शोथहर, छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण, वातानुलोमन, मृदुरेचन, शोणितस्त्रापन, कफ निःसारक, कंद्य, शुक्रवर्धक, जीवनीय, बल्य रसायन है।

संस्थानिक प्रयोग— यह व्रणशोथ एवं विषों में लेप के रूप में प्रयुक्त होती है। केश के रोगों (खालित्य, पालित्य) में इसके क्वाथ में बाल धोते हैं। शस्त्र से कट जाने पर यदि पीड़ा हो तो घी में मिलाकर मुलेठी का चूर्ण लेप करने से पीड़ा शांत होती है।

आभ्यंतर नाड़ी संस्थान— वातविकारों में यह लाभकर होता है। आमवात में इसका प्रयोग लाभदायक होता है। शिरोरोग में तथा बुद्धिवर्धन के लिए उपयोगी है।

पाचन संस्थान— वमन, तृष्णा और विबंध में इसका प्रयोग करते हैं। अन्य रेचन औषधियों के साथ भी इसे मिलते हैं। यह वातानुलोमन होने से उदरशूल को शांत करती है। मधुर होने से यह आमाशयगत अम्लता को कम करता है तथा आमाशयिक क्षत का संधान करता है। अम्लपित्त जैसे रोगों में क्षारों की अपेक्षा इससे अधिक स्थायी लाभ होता है। आमाशयिक व्रण (Peptic Ulcer) में भी यह अत्यंत लाभदायक है।

श्वसन संस्थान— यह कास-श्वस एवं स्वरभेद में प्रयुक्त होती है। यक्ष्मा में भी लाभकर है, ज्वर नाशक भी है। कास का वेग कम होता है तथा रोगी के बल की वृद्धि होती है। संधानीय होने से इससे उरोगत व्रण, क्षत आदि भी दूर होते हैं। पार्श्वशूल भी शांत होता है।

नेत्र— इसके चूर्ण के सेवन से दृष्टि शक्ति बढ़ती है।

विशेष— सुश्रुत ने इसको जीवनी शक्ति बढ़ाने वाले द्रव्यों में प्रधान माना है। डॉ०कोथ ने बताया है कि वेदना को कम करने में व पेट के अंदर क्षारीय तत्व जमा होने से जो बीमारियों तथा लक्षण पैदा होते हैं, उनको दूर करने में मुलेठी आश्चर्यजनक काम करती है। ज्यादा अम्लयुक्त भोजन को लेने से पेट में जलन होती है, उसको भी यह अच्छी तरह दूर करती है। हृदयरोग में मुलेठी और कुटकी का चूर्ण मिश्री मिलाकर जल से सदैव लेना चाहिए। नेत्रदृष्टि बढ़ाने के लिए आंवला मिलाकर सेवन करना चाहिए।

15.4.6 प्रयोज्य अंग— मूल।

15.4.7 मात्रा— 3-5 ग्राम।

15.4.8 विशिष्ट योग— यष्ट्यादि चूर्ण, यष्ट्यादि क्वाथ, यष्टीमध्वाद्य तैल।

15.5 आंवला (आमलकी)

15.5.1 नाम— लै०— एम्ब्लिका ऑफिसिनेलिस जार्टन (*Emblica officinalis gaertn*), सं०—आमलकी, धात्री, हि०— आँवला, बं०— आमला, आमलकी, फा०— आमल, आम्लज, अं०—एंबिलिक मिरोबेलन (*Emblc Myrobalan*), गुज०— आंवला, त०—नेल्लिकाई, ते०— उशीरकई, कन्न०, मल०—नेल्लि।

कुल— एरंड कुल युफोर्बिएसी (*Euphorbiaceae*).

15.5.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का 20 से 30 फीट तक ऊँचे होते हैं। पेड़ का तना सरल नहीं होता। लकड़ी कुछ ललाई लिए हुए सफेद और मजबूत होती है। इसमें सार भाग कम होता है। ऊपर का छिलका राख के रंग का 1-25 इंच मोटा होता है। प्रतिवर्ष यह उतरता है। पत्ते—शमीपत्र जैसे या इमली के पत्ते जैसे: किंतु उसे कुछ बड़े लगभग 1-5 इंच लंबे होते हैं। फूल बसंत (चैत, बैशाख) में आते हैं। रंग में हरिताभ, पीत, राई के दाने जैसे छोटे होते हैं। ये गुच्छों में खिलते हैं। इनमें से नींबू के फूल जैसी मंद सुगंध आती है। फल माघ या फाल्गुन मास तक परिपक्व हो जाते हैं। ये पीली आभा लिए हरे, आकार में कागजी नींबू जैसे गोल, चिकने, गूदादार तथा एक पतली रेखा से छः बराबर भागों में विभक्त होते हैं। फल के ऊपर का छिलका अत्यंत पतला होता है। भीतर एक कठोर गुठली छः उभरी फाँकों से युक्त होती है।

जति— (1) वन्य, (2) ग्राम्य।

15.5.3 उत्पत्ति स्थान— भारतवर्ष में उष्ण प्रधान प्रदेशों में, विशेषतः उत्तर भारत अवध, बिहार और पूर्वी देशों में इसकी उपज अधिक होती है। हिमालय की तराई में दक्षिण में समुद्र किनारे के प्रदेशों में एवं सीलोन में प्रचुर प्रमाण में पाया जाता है।

15.5.4 गुण—कर्म— गुण— गुरु, रूक्ष, शीत रस— पंचरस (लवण रहित), अम्ल प्रधान

विपाक— मधुर

वीर्य— शीत

त्रिदोषहर विशेषतः पित्तशामक है। दाहप्रशमन, चक्षुष्य, केश्य, मेध्य, नाडीबल्य, रोचन, दीपन, अनुलोमन, अम्लता नाशक, यकृदुत्तेजक, स्तंभन, स्रंसन, हृद्य, शोणित स्थापन, कफघ्न, वृष्य गर्भस्थापन, मूत्रल, प्रमेहघ्न, कुष्ठघ्न, ज्वरघ्न, रसायन।

मूत्रवरोध में रस का लेप करते हैं। आंवले के फल का रस या अर्क शहद और पीपर चूर्ण मिलाकर हिक्का और कष्टश्वास में दिया जाता है। केसर, नील कमल, गुलाब जल के साथ आंवले को अच्छी तरह पीसकर किया गया लेप सिर दर्द या आधा शीशी के लिए लाभदायी है।

आंवला चूर्ण के साथ समभाग तिलचूर्ण मिलाकर घृत एवं मधु से 20 दिन तक नित्य प्रातः सेवन से हृदय की धड़कन दूर होती है, बुद्धि बढ़ती है और जरा व्याधि दूर होती है। असगंध चूर्ण के साथ लेने से देहकांति बढ़ती है। भोजन के प्रति अरूचि, उल्टी, हिचकी एवं रक्त वमन में यह विशेष लाभकारी है।

15.5.5 प्रयोज्य अंग— फल।

15.5.6 मात्रा— स्वरस 10 से 20 मि०ली०, चूर्ण— 3 से 6 ग्राम।

15.5.7 विशिष्ट योग— च्यवनप्राश, ब्राह्मरसायन, धात्रीलौह, धात्रीरसायन, आमल्क्यादि घृत, आमल्क्यादि चूर्ण।

15.6 बिल्व

15.6.1 नाम— लै०— एजेल मार्मेलस (Aegle marmelos)]सं०— बिल्व, शांडिल्य, श्रीफल, सदाफल, हि०—बेल, म०—बेल, गु०—बीली बं०—वेल, मल०—विल्वम्, क०—बेलपत्रे, ते०—मोरेडु, अं०—बेल फ्रूट (Bael Fruit) .

कुल— जंबीर कुल रूटेसी (Rutaceae).

15.6.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका 25-30 फुट ऊँचा, 3-4 फीट मोटा] 1 इंच लंबे कंटकों से युक्त वृक्ष होता है। पत्र संयुक्त त्रिपत्रक और गंधयुक्त होते हैं। पुष्प हरिताभ श्वेत सुगंधि 1.5-3 इंच लंबी मंजरियों में नये पल्लवों के उद्गम के साथ आते हैं। फल 2-4 इंच व्यास का, गोलाकार या अंडाकार, धूसर पीताभ होता है। फलत्वक् कठिन चिकनी और सुगंधित होती है। फलमज्जा—पीतवर्ण मधुर और सुगंधित होती है, जिसमें पिच्छिल द्रव्य से आवृत बीज छोटे कड़े अनेक होते हैं। गरमियों में पत्ते झड़ जाते हैं। फल जून में पकते हैं।

जाति— (1) वन्य] (2) ग्राम्य।

15.6.3 उत्पत्ति स्थान— यह समस्त भारत में विशेषतः सूखी पहाड़ी क्षेत्रों तथा हिमालय में 4000 फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

15.6.4 गुण—कर्म— रस— कषाय, तिक्त गुण— लघुद्र रूक्ष वीर्य— उष्ण विपाक— कटु दोषकर्म— यह रूक्ष, लघु, कषाय और तिक्त होने के कारण कफ का तथा उष्ण होने से वात का शामक है। इस प्रकार यह कफ—वात को शांत करता है। कच्चा फल—दीपन, पाचन, ग्राही एवं कृमिघ्न है। पका फल—कषाय, मधुर और मृदुरेचन है। इसका मल वात—व्याधिक आक्षेपक, उन्माद, अनिद्रा आदि में प्रयोग होता है।

पाचन संस्थान— मूल त्वक् और कच्चे फल का प्रयोग अग्निमाद्य, अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी में होता है। उदरशूल में भी लाभकर है। कच्चे फल का गूदा पकाकर पुराने गुड़ या मधु के साथ देने से रक्तातिसार, रक्तप्रवाहिका, रक्तार्श आदि में लाभ होता है। पका फल भी इन रोगों में देते हैं। विष्टंभी होने के कारण पके फल का अधिक मात्रा में तथा अर्श आदि रोगों में इसका उपयोग नहीं करना चाहिए। विबंध में पका फल देते हैं। इससे मल साफ आता है। विसूचिका के प्रतिषेध के लिए इसका फल नित्य खिलाते हैं। पत्र स्वरस काली मिर्च के साथ विबंध तथा कामला में देते हैं।

मुख्य प्रयोग— मधुमेह में पत्र स्वरस 1 से 2 तोला देने से लाभ करता है। शरीर की दुर्गंध को दूर करता है। क्षुधा निवारणार्थ कई साधु—सन्यासियों का कथन है कि बेलपत्र को जल के साथ पीसकर, छानकर पीने से बहुत दिनों तक मनुष्य बिना अन्न के जीवित रह सकता है। मल—मूत्र कम निकलता है। शरीर भली—भाँति स्थिर रह सकता है। पाचनशक्ति के अनुसार 20 से 40 तोला तक सेवन करते हैं। शरीर की इंद्रियों एवं चंचल चित्त की वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं तथा गूढ तत्व विचार शक्ति जाग्रत होती है। कर्ण बाधिर्य, कर्णनाद, कानों में सनसनाहट, कर्णशूल, कर्णस्राव आदि में इससे सिद्ध तैल कानों में डालने से ये रोग दूर होते हैं। यह गर्भाशय—शोथ, श्वेतप्रदर तथा

सूतिका रोग को दूर करता है। छाल का स्वरस जीरा का चूर्ण और दूध के साथ शुक्रमेह में देते हैं।

प्रयोज्य अंग— मूल, त्वक्, पत्र, फल। मूलत्वक् एवं पत्रस्वरस का शोथ रोग में प्रयोग करते हैं।

15.6.5 मात्रा— चूर्ण 3-6 ग्राम, स्वरस 10-20 मि०ली०, पानक 20-40 मि०ली०।

15.6.6 विशिष्ट योग— बिल्वपंचक क्वाथ, बिल्वादि चूर्ण, बिल्वादि घृत, बिल्व तैल, बिल्व मूलिका गुटिका।

15.7 कुटज

15.7.1 नाम— लै०— हौलेरिना एण्टीसिडेंटरिका (*Holarrhena antidysenterica*)
सं०— कुटज, गिरिमल्लिका, वत्सक, वृक्षक, कालिंग, इंद्रवृक्ष, हि०— कुड़ा, कुड़ैया, बं०—कुरची, म०७कुड़ा, गु०—कुडो, त०—वेप्पलेइ, ते०—कोडाग, क०—कोरची, मल०७कोडागपल, उ०—खेरवा, अ०—तिबाजे, शज़्रलिसानुल असाफीरूल, फा०—दरख्त जबाने कुजिशक तल्ख, अं०—कुर्चि (*Kurchi*).

कुल— कुटज कुल एपोसाइनेसी (*Apocynaceae*).

15.7.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका वृक्ष 30 से 40 फुट ऊँचा होता है। छाल लालिमायुक्त भूरे रंग की चिकनी होती है। पत्र अपेक्षाकृत छोटे 3 से 6 इंच लंबे, 1 से 2 इंच चौड़े, भालाकार, नोकदार सूखने पर काले पड़ जाते हैं। पुष्प कुछ अरूणाभ चमेली पुष्प जैसे अधिक सुगंधित, फलियाँ 3 से 13 इंच लंबी, 2-2 एक साथ परस्पर अग्रभाग पर जुड़ी हुई, पृष्ठभाग पर श्वेत दागों से युक्त होती है। बीज— 1/2 से 3/4 इंच लंबे जौ के आकार के जिन्हें इंद्रयव कहते हैं। मई—जुलाई में पुष्प और जाड़े में फल लगते हैं। फरवरी—अप्रैल में पत्तियाँ झड़ जाती हैं।

जाति— (1) श्वेत, (2) कृष्ण।

श्वेत कुटज तथा तिक्त बीज (इंद्रयव) अधिक गुणकारी होते हैं।

उत्पत्ति स्थान— यह समस्त भारत में 4000 फुट ऊँचा होता है। कृष्ण कुटज विशेषतः दक्षिण भारत और महाराष्ट्र में पाया जाता है।

15.7.3 गुण—कर्म— रस— तिक्त, कषाय गुण— लघु, रूक्ष
वीर्य— शीत विपाक— कटु

यह रूक्ष, तिक्त, कषाय तथा शीत होने से कफ—पित्त शामक होता है। यह वामक, दीपन, स्तंभन, अशोघ्न और कृमिघ्न है। यह अमीबिक प्रवाहिका नाशक तथा आम, रक्त एवं जलांश का शोषक है। कुटज संग्राहिक एवं उपशोषण द्रव्यों में श्रेष्ठ माना गया है एवं आंत्रों की गति को संयमित कर मल को बाँधता है।

15.7.4 प्रयोग— वाह्य—व्रणों को इसके क्वाथ से धोते हैं। फोड़े आदि पर इसकी छाल का लेप करते हैं। अग्निमांद्य, अतिसार, प्रवाहिका, ज्वरातिसार, अर्श (विशेषतः रक्तार्श) उदरशूल और कृमिनाशक है। रक्त विकार (वातरक्त, कुष्ठ आदि) और रक्तपित्त में लाभदायक है। ज्वर में उपयोगी है। विषम ज्वरनाशक है।
सात्मीकरण— लेखन के लिए अतिस्थूल व्यक्तियों को दिया जाता है।

रक्त प्रवाहिका में जबकि (पेचिश में) रक्तस्राव अधिक हो तो इसकी छाल को मोटा चूर्ण 2 तोला, जल 32 तोला तथा बकरी का दूध 16 तोला एक में मिलाकर मंदाग्नि पर पकावें। दुग्धावशेष क्वाथ को छानकर उसमें छः माशा शहद मिलाकर पिलाने से 2&3 मात्रा में ही लाभ होता है। रक्तातिसार में भी लाभदायक है।

प्रयोज्य अंग— त्वक्, बीज

15.7.5 मात्रा— 20 सs 30 ग्राम (क्वाथार्थ), चूर्ण 3 से 6 ग्राम।

15.7.6 विशिष्ट योग— कुटजारिष्ट, कुटजावलेह, कुटजसुरा।

15.8 नागरमोथा (मुस्तक)

15.8.1 नाम— लै०— साइपरस रोटण्डस (Cyperus rotundus), सं०— मुस्तक, वारिद, हि०— मोथा, नागरमोथा, बं०—मुथा, गु०—मोथ, नागरमोथ, ता०— कोरइ, मुथाकच, ते०— तुंगमुस्ते, क०— तुंगेगद्दे, अं०— सोअद् कूपी, फा०—मुश्के जर्मी, अं०—नटग्रास (Nut Grass).

कुल— मुस्तक कुल साइपरेसी (Cyperaceae).

15.8.2 स्वरूप एवं परिचय— यह तृण जातीय बहुवर्षीय क्षुप है। ये 1 से 3 फुट ऊँचे होते हैं। पतला कांड, चिकने, नलाकार होते हैं। पत्र लंबे, पतले, रेखाकार घास जैसे रहते हैं। पुष्प श्वेताभ हरे रंग के छोटे-छोटे गुच्छों में आते हैं। ये क्षुप के अग्रभाग से निकली हुई 2 से 4 फुट ऊँची डंडी पर लगते हैं। यह डंडी 10 से 12 शाखा-प्रशाखा युक्त होती है। लंबे-लंबे बीज होते हैं। मूल भौतिक कांड से लगे रहते हैं। ये ही कंद हैं। ये 1/2 व्यास के अंडाकार मोटे-टेढ़े रहते हैं। इसका रंग बाहर से काला, भूरा तथा भीतर से श्वेत होता है। अंदर से ये सुगंधित होते हैं। पुष्प, फल जुलाई से दिसंबर में लगते हैं।

जाति— (1) भद्रमुस्तक, (2) नागरमुस्तक, (3) जलमुस्तक (कैवर्त्त मुस्तक)।

उत्पत्ति स्थान— ये क्षुप प्रायः समस्त भारत के विशेषतः पश्चिम बंगाल व दक्षिण भारत के जलीय एवं आर्द्र प्रदेशों में बारहों मास पाए जाते हैं। वर्षा काल में ये खूब पनपते हैं।

15.8.3 गुण—कर्म— गुण— लघु, रूक्ष रस— तिक्त, कटु, कषाय विपाक— कटु वीर्य— शीत।

कफ—पित्त शामक, त्वग्दोषहर, शोथहर, लेखन, मेध्य, नाडीबल्य, दीपन, पाचन, ग्राही, तृष्णानिग्रहण, कृमिघ्न, रक्तप्रसादन, कफघ्न, मूत्रल, गर्भाशय संकोचक, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, जवरघ्न।

त्वचा में विकारों में लेप करते हैं। स्तनों पर लेप करने से स्तनों की वृद्धि होती है और दूध बढ़ता है। नेत्र रोगों में अंजन करते हैं।

इसके पंचांग को मिट्टी के पात्र में बंद कर आग पर रखकर भस्म बना लें। इस भस्म को शतधौत घृत मिलाकर लगाने से विसर्प रोग, बच्चों के सिर की फुंसियाँ और हर प्रकार के घाव अच्छे होते हैं। जड़ का मोटा लेप करने से बगल में होने वाली कखवारी (बद) ठीक हो जाती है।

मस्तिष्क दौर्बल्य तथा अपस्मार में नागरमोथा, क्षुप की जड़ (उत्तर दिशा की गई हुई) पुष्प नक्षत्र में लाकर जटामांसी के साथ पीसकर समान वर्ण वाली सवत्सा माँ के दूध में मिलाकर पिलाने से लाभज्ञ होता है। मुस्ता संग्राहक तथा दीपन-पाचन द्रव्यों में सर्वोत्तम माना गया है।

15.8.4 प्रयोज्य अंग— कंद।

15.8.5 मात्रा— 3 से 6 ग्राम, क्वाथ— 60 से 100 मि०ली०।

15.8.6 विशिष्ट योग— मुस्तकादि क्वाथ, मुस्तकारिष्ट, मुस्तादि चूर्ण, मुस्तादि लेह, षडंगपानीय, बाल चातुर्भद्र चूर्ण।

15.9 शुण्ठी

15.9.1 नाम — लैटिन— जिंजिबर ऑफिशिनेल् तेल (Zingiber officinale)

संस्कृत — शुण्ठी (शुष्क होने से), नागर (श्रेष्ठ औषध तथा नगर में व्यापार होने के कारण), महाषौध (प्रशस्त औषध) विश्वभेषज (अनेक विकारों में प्रयुक्त), श्रृगबेर (श्रृंगाकार कन्द होने के कारण) कच्चे कन्द को 'आर्द्रक' (गीला होने के कारण) कहते हैं।

कुल — आर्द्रक कुल — जिंजिबरसी तेल Zingiberaceae)।

हिन्दी — अदरख,

15.9.2 स्वरूप — यह कोमल, कन्दयुक्त बहुवर्षीय क्षुप है। इसका पत्रमय काण्ड 2-4 फुट ऊँचा होता है। पत्र लम्बे, चौड़े, तथा अधस्तल पर चिकने होते हैं। पुष्पध्वज डेढ़ से तीन इंच लम्बा होता है। जिसमें 6-12 इंच लम्बे पुष्पदण्ड पर हरिताभ पीतवर्ण पुष्प लगते हैं जिसका ओष्ठ भाग गहरे बैंगनी रंग का या कृष्णाभ होता है। पुंकेशन गहरे बैंगनी रंग के होते हैं। पुष्प वर्षाऋतु एवं शरद में आते हैं किन्तु कम ही दृष्टिगत होते हैं।

कन्द सुगन्धित, स्थूलखंडयुक्त, हल्के पीले रंग का होता है।

15.9.3 उत्पत्तिस्थान — उष्ण और आर्द्र प्रदेशों में विशेषतः केरल में इसकी खेती की जाती है। इसके अतिरिक्त बंगाल, उड़ीसा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश तथा हिमाचलप्रदेश में इसकी खेती होती है।

15.9.4 रासायनिक संघटन — आर्द्रक में आर्द्रता 80-9, प्रोटीन 2-3, वसा 0-9, सूत्र 2-4, कार्बोहाइड्रेट 12-3, खनिज 1-2 प्रतिशत, कैल्शियम 20, फास्फोरस 60, लौह 2-6 मि०ग्रा० प्रति 100ग्राम। इसके अतिरिक्त कुछ आयोडिन और क्लोरीन होता है। विटामिन ए०बी०और सी०भी होते हैं।

शुण्ठी में आर्द्रता 10-9, प्रोटीन 15-4, सूत्र 7-2, स्टार्च 5-3, कुल भस्म 6-6, उड़नशील तेल 1.2-7 प्रतिशत होता है।

उड़नशील तेल छिलकासहित सोंठ से प्राप्त किया जाता है क्योंकि छिलका में तेलकोषाणु विशेष रूप से स्थित होते हैं। आर्द्रक से भी ऐसा तेल निकाला जा सकता है। यह सुगन्धित तेल शुण्ठी कहलाता है। किन्तु इसमें कटुता नहीं होती। इस तेल में जिंजिबरीन जिंजिबराल आदि तत्व होते हैं।

शुण्ठी में वर्तमान कटु तत्व उड़नशील नहीं होते। अतः शुण्ठीचूर्ण को एसिटोन अलकोहल या ईथर में रखने पर एक गाढ़ा, गहरे भूरे रंग का तैलीय राल है जिसे व्यापार में जिंजरीन भी कहते हैं। द्रव्य की सारी कटुता इसी में होती है। यह लगभग 6-5प्रतिशत होता है। कटु तत्वों के अतिरिक्त, तैलीय राल में सुगन्धित तेल 7-8प्रतिशत तथा अकटु पदार्थ 30प्रतिशत होते हैं। कटु तत्वों में जिंजरोल, शोगाओल तथा जिंजरोन प्रमुख हैं।

15.9.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य विशेषकर प्रसवोत्तर दौर्बल्य में शुण्ठीपाक का प्रयोग करते हैं। इससे पेट ठीक होता है, वातविकार नष्ट होते हैं, शोथ दूर होता है तथा बल की वृद्धि होती है। आमवात की भी यह एक उत्तम औषध है।

15.9.6 प्रयोज्य अंग — कन्द

15.9.7 मात्रा — आर्द्रक स्वरस 5-10मि०लि०, शुण्ठी चूर्ण 1-2ग्राम।

15.10 इसबगोल

15.10.1 नाम— लै०— पलेंटेगो ओवेटा फोक्स (plantago ovate), सं०— अश्वगोल, ईषद्गोल, अश्वकर्ण, बीज, शीतबीज, ईश्वरगोल, हि०—इसबगोल, गु०—उमतो जीरू, घोड़ा, जीरू, त०— इसकोल विरइ, ते०—इसपगोल विटुलु, क०—इसपगोलु, मल०—कर्कटश्रृंगी, अ०—बज्कतूना, फा०—अस्पगोल, अं०—स्पोगल सीड्स (Spogel Seeds).

कुल— अश्वगोल कुल प्लेंटेजिनेसी (Plantaginaceae).

15.10.2 स्वरूप एवं परिचय— यह एक कांड रहित रोमश वर्षायु क्षुप होता है। पत्र तीन से नौ इंच लंबे, पुष्पध्वज अंडाकार कोण पुष्पक चौड़े किनारों वाले आयताकार गोलाग्र चिकने होते हैं। फल अंडाकार आठ मि०मी० लंबे गोलाग्र ऊपरी भाग शंकवाकार ढक्कन के रूप में हो जाता है। बीज नौकाकार होते हैं जो देखने में घोंडे में कान के सदृश मालूम होते हैं। इसी आधार पर इसको फारसी नाम में अस्प (घोड़ा) गोल (कान) कहते हैं। बीज मज्जा गहरी लाल होने के कारण बीज हल्के गुलाबी रंग के दिखाई पड़ते हैं।

उत्पत्ति स्थान— भूमध्यसागरीय क्षेत्र तथा पश्चिमी एशिया और पाश्चात्य देशों में यह स्पेन तक होती है। अब उत्तर—पश्चिम भारतवर्ष तथा पंजाब और सिंध के मैदानों में प्रचुरता से पैदा होने लगता है। पश्चिम बंगाल, मैसूर, कारोमंडल के तट पर भी यह कुछ प्रमाण में बोया जाने लगा है।

15.10.3 गुण—कर्म— रस— मधुर गुण— स्निग्ध, गुरू, पिच्छिल वीर्य— शीतविपाक— मधुर

दोष प्रयोग— यह स्निग्ध मधुर होने से वात का तथा मधुर शीत होने से पित्त का शमन करता है। स्नेहन, अनुलोमन और शामक है। कफनिस्सारक, बल्य, बृंहण, दाहप्रशमन है।

आभ्यांतर पाचन संस्थान— थोड़ा सा गाय के घी में हल्का सा भूनकर अतिसार और प्रवाहिका में देते हैं।

15.10.4 प्रयोज्य अंग— बीज और बीज का छिलका (भूसी)।

15.10.5 मात्रा— 5 सs 10 ग्राम।

प्रयोग विधि— बीजों को धोकर एक कप जल में भिगो—हिलाकर पिलाएँ।

अहित प्रभाव— अधिक प्रयोग से गुरूता के कारण अग्निमांघ हो जाता है। इस दोष के निवारण के लिए इसके साथ अरिष्ट, आसव का प्रयोग करना चाहिए।

विशेष— सब प्रकार की नई पुरानी संग्रहणी, जीर्ण रक्तातिसार एवं आमातिसार, जहाँ सारे इलाज असफल हो गए हों, यह निश्चित लाभ करता है। जीर्ण कोष्ठबद्धता की अचूक दवा है। प्रमेह एवं स्वप्नदोष में यह भूसी आश्चर्यजनक लाभ करती है। साथ में आँतों का शोधन तथा रूक्षता को दूर करती है। इसके बीजों को पीसकर कभी न खाएँ, पीसकर खाने से विषाक्त प्रभाव होता है।

15.11 शरपुंखा

15.11.1 नाम— लै०— टेफ्रोजिया पर्पुरिया (*Tephrosia purpurea*) सं०— शरपुंखा, प्लीहा शत्रु, नील वृक्षाकृति, हि०— सरफोंका, बं०— बननील, म०— उन्हाली, गु०— शरपुंखो, पं०— झोझरू, ता०— कोलिंगि, ते०— वेंपलि, अं०— पर्पल टेफ्रजिया (*Purple tephrosia*).

कुल— शिंबकी कुल लेग्युमिनोसी (*Leguminosae*).

15.11.2 स्वरूप एवं परिचय— इसके क्षुप की ऊँचाई 1 से 3 फीट तक होती है। पत्र दंड से 3 से 6 इंच लंबा होता है। इस पर 19 से 21 की संख्या तक पत्रक रहते हैं। ये पत्रक मेथी के पत्तों के समान होते हैं। इसका उपरी भाग सूक्ष्म लोमयुक्त और अधोभाग रोयेंदार होता है। पत्रक तोड़ने पर बाण (शर) के पंख के समान टूटते हैं, अतः इसे शरपुंखा कहते हैं। 3 से 6 इंच लंबे पुष्प दंड पर लाल बैंगनी रंग के आकार में छोटे फूल आते हैं। फली 1.5 सs 2 इंची लंबी रोयेंदार आगे से कुछ मुड़ी हुई और चपटी होती है, जिसमें 1 से 10 तक बीज निकलते हैं। जड़ गहरी होती है। वर्षाकाल में फूल और शीतकाल में फली होती है।

जाति— (1) श्वेत पुष्प शरपुंखा (*T. Procumbens*) अथवा (*T. Candida*).

(2) नील गुलाबी पुष्प शरपुंखा (*T. Villosa*)

(3) कंटकित शरपुंखा (*T. Spinosa*).

15.11.3 उत्पत्ति स्थान— यह भारत के मैदानी भागों में तथा हिमालय में 4000 फीट की ऊँचाई पर प्राप्त होता है।

15.11.4 गुण—कर्म— गुण— लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण रस— तिक्त, कषाय

विपाक— कटु वीर्य— उष्ण

प्रभाव— प्लीहघ्न

यह कफ—वात शामक, शोथहर, कुष्ठघ्न, विषघ्न, जंतुघ्न, व्रण रोपण, रक्तरोधक, दन्त्य, दीपन, अनुमोलन, पित्त सारक, कृमिघ्न, प्लीहघ्न, रक्तशोधक, कफ निःसारक, मूत्रल, गर्भाशयोत्तेजक है।

15.11.5 प्रयोग— स्थानिक लेप लगाने के लिए मूल का प्रयोग करते हैं। दंतरोगों में इसकी दातून करते हैं। इसका दो—तीन माशे चूर्ण तक (मट्ठा) के साथ देने से कै (वमन) होर प्लीहा वृद्धिजन्य शोथ का शमन होता है। न्यूमोनिया में भी इसी कारण से कफ निकलकर आराम मिलता है। जड़ पानी से घोंटकर शक्कर के साथ देते हैं। सुजाक में इसके दो भाग पत्ते एक भाग कालीमिर्च के साथ पीसकर दिए जाते हैं। बवासीर में पत्र चूर्ण दही में मिलाकर देते हैं। उदरशूल में इसकी ताजी जड़ की छाल को कालीमिर्च के साथ पीसकर गोली बनाकर देने से चमत्कारिक लाभ होता है। यकृत और तिल्ली की वृद्धि में एवं गुल्म में इसको हरड़ के साथ देते हैं। शरपुंखा के मूल को चावल के धोवन के साक्ष पीसकर स्वरस तैयार कर नस्य लेने और लेप करने से अपच, विष, कृमि आदि विकार मिटते हैं। मूढत्रगर्भ, कष्टार्तव में लाभकर है।

15.11.6 प्रयोज्य अंग— मूल, पंचांग क्षार।

15.11.7 मात्रा— चूर्ण 3 से 6 ग्राम, स्वरस 10 से 20 मि०लि०, क्षार 1 से 3 ग्राम।

15.11.8 विशिष्ट योग— शरपुंखा क्षार, कुष्ठनाशक तैल।

15.12 विडंग

15.12.1 नाम— लै०— इंबेलिया रिब्स (*Embelia ribes*), सं०—विडंग, कृमिघ्न, चित्रतंडुल, हि०—वायबिडंग, भाभिरंग, पं०—वावडींग, बं०—बिडंग, म०—बावडिंग, ता०—वायुविलंग, गु०—वावडींग।

कुल— विडंग कुल मर्सिनेसी (*Myrsinaceae*).

15.12.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका बड़ा मुदृशाखी गुल्म होता है। पत्र अंडाकार, भालाकार 3 इंच लंबे 1.5 इंच चौड़े होते हैं। पुष्प श्वेत वर्ण धूसर छोटे 3-4 लंबी शाखाओं से युक्त मंजरियों में होते हैं। फल मरिच के सदृश गोलाकार झुर्रीदार, रक्ताभ से कृष्ण तक गुच्छों में लगते हैं। फल का बहिर्भाग भंगुर होता है, जिसके भीतर एक झिल्लीदार बीज होता है जिस पर सफेद दाग होते हैं।

उत्पत्ति स्थान— यह भारत में पर्वतीय प्रदेशों में 5000 फीट की ऊँचाई तक होता है।

15.12.3 गुण—कर्म— रस— कटु, कषाय गुण— लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण वीर्य— उष्ण

विपाक—कटु, प्रभाव— कृमिघ्न

यह उष्णवीर्य होने से कफ—वात शामक है। जंतुघ्न, कुष्ठघ्न, शिरोविरेचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न द्रव्यों में श्रेष्ठ है।

15.12.4 प्रयोग— यह रक्तशोधक है। इसकी विशिष्ट क्रिया रस ग्रंथियों पर होती है और उनका शोथ नष्ट होता है। यह रसायन है और इसकी उत्तेजक क्रिया शरीर के सब अंगों पर होती है। कृमिघ्न, दंतशूल आदि में विडंग क्वाथ का गंडूष करते हैं। चर्म रोगों में इसका लेप किया जाता है। जीर्ण कामला, प्रतिश्याय, शिरोरोगों में इसका नस्य देते हैं। मस्तिष्क दौर्बल्य, नाडी दौर्बल्य से उत्पन्न वात व्याधि (आक्षेपक, अपस्मार, पक्षाघात आदि) में रसोन के साथ क्षीरपाक कर इसका प्रयोग करते हैं।

अग्निमांद्य, अजीर्ण, वमन, उदरशूल, आध्मान, विबंध और अर्श में इसका प्रयोग उष्णोदक या तक्र से किया जाता है। गंडूपद, स्फीति तथा तंतु कृमियों में खाली पेट 10 ग्राम विडंग चूर्ण देते हैं और उसके बाद जुलाब देते हैं। इससे कृमि मरकर बाहर निकल आते हैं। गंडूपद कृमि पर इसका विशेष प्रभाव होता है। इसके बाद कुछ दिनों तक थोड़ी मात्रा में विडंग चूर्ण को इंद्रजौ, पलाश बीज, नीम की छाल आदि के साथ सेवन कराते हैं।

पिप्पली के साथ विडंग का प्रयोग गर्भ निरोध में होता है। इससे कुष्ठ आदि समस्त चर्मरोग दूर होते हैं और त्वचा का वर्ण ठीक होता है।

विशेष— इसके सेवन से मूत्र का रंग लाल हो जाता है। इससे अम्लता बढ़ती है। इसकी क्रिया शरीर की सब क्रियाओं पर एवं प्रधान रूप से रस ग्रंथि पर होती है। वह शरीर की समस्त जीवनीय क्रिया को उत्तेजना देता है। शरीर पर इसका प्रभाव पारद जैसा ही विलक्षण होता है। इसके सेवन से क्षुधा लगती है, आहार पचता है, दस्त साफ आता है, वजन बढ़ता है। त्वचा की कांति दीप्त होती है, तेज का संचार होता है तथा मन में प्रसन्नता पैदा होती है। बालकों के लिए यह महाऔषधि है। जिन बालकों को सूखा हो गया हो, खाया हुआ कुछ भी न पचता हो, हाथ-पैर पतला होकर त्वचा पतली हो गई है, पेट बड़ा हो गया हो, ऐसे बालक को प्राण बचाने वाली औषधि वायविडंग ही है। बच्चों की स्वास्थ्य रक्षा के लिए इसके दानों को दूध में पकाकर दिया जाता है।

15.12.5 प्रयोज्य अंग— फल।

15.12.6 मात्रा— 5 से 10 ग्राम।

15.12.7 विशिष्ट योग— विडंगादि चूर्ण, विडंग लौह, विडंगारिष्ट।

15.13 कालमेघ (भूनिंब)

15.13.1 नाम— लै०— एंड्रोग्राफिस पेनिकुलेटा (*Endographis paniculata*), सं० भूनिंब, कालमेघ, हिंदी— कालमेघ, बं०— कालमेघ, म०— ओलि—किरियात, गु०—करियातु, त, ते०—नेलवेमु, मल०—नेलवेपु, कन्न०— नेलबेरू, फा०—नैनेहवन्दी, अं०—कालमेघ।

कुल— वासा कुल एकैन्थेसी (*Acanthaceae*).

15.13.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका क्षुप 1 से 3 फुट ऊँचा वर्षायु होता है। कांड—चतुष्कोण, नीचे चिकना और रोमश होता है। पत्र—अभिमुख रेखाकार, भालाकार चिकने डेढ़ और ढाई इंच लंबे और 1/2 और 3/4 इंच चौड़े होते हैं। पुष्प छोटे हलके बैंगनी रंग के होते हैं। फल—यवाकार 3/4 इंच लंबे, 1/8 इंच चौड़े रोमश और चिकने होते हैं। इसका पंचांग अत्यंत तिक्त होता है।

15.13.3 गुण—कर्म— गुण— लघु, रूक्षरस— तिक्त

विपाक— कटु वीर्य— उष्ण

दोषकर्म— यह कफ पित्तहर है। दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, रेचन, कृमिघ्न, रक्तशोधक, शोधहर, स्वेदजनन, कुष्ठघन है।

दोष प्रयोग— यह पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

स्थानिक प्रयोग— अग्निमांद्य, यकृतवृद्धि, विबंध, कृमिरोग में यह उपयोगी है। यकृत रोगों में इसका विशेष प्रयोग होता है। इसका चूर्ण, मरिच चूर्ण के साथ मलेरिया में देते हैं। जीर्णज्वर नाशक है। इससे यकृत ठीक होता है। ज्वर शांत होता है और बलवर्द्धक है।

विशेष प्रयोग— बच्चों के यकृत विकृतियों में विशेषतः शैथिल्यजन्य अग्निमांद्य में व क्षुधानाश में यह बहुत लाभकारी होता है। नौसादर के साथ देने से यह यकृत विकारों को दूर करता है। ज्वर पर इसका प्रभावी क्विनाइन जैसा, किंतु उससे कुछ कम होता है। क्विनाइन के दुष्परिणाम इससे नहीं होते।

15.13.4 प्रयोज्य अंग— पंचांग।

15.13.5 मात्रा— 1 से 3 ग्राम, स्वरस 5 से 10 मि०लि०, क्वाथ 20 से 40 मि०लि०।

15.13.6 विशिष्ट योग— कालमेध नवायस, कालमेध तरलसत्व (Liquid Extract of Kalmegh).

15.14 धातकी

15.14.1 नाम — लैटिन — वुडफोर्डिया फ्रुटिकोजा (Woodfordia fruticosa)

संस्कृत — धातकी, धातुपुष्पी

हिन्दी — धाय

अंग्रेजी — फायर फ्लेम बुश (Fire flame bush)। कुल — मदयिन्तका

कुल — (लिथरेसी — Lytheraceae)।

15.14.2 स्वरूप — इसका शाखायुक्त गुल्म 10फीट तक ऊँचा होता है। छाल रक्ताभ भूरे रंग की पतले टुकड़ों में झूटती रहती है। पत्र—अभिमुख, 2-4इंच लंबे, प्रायः वृन्तरहित, भालाकार, लंबाग्र अधस्तल पर सूक्ष्मरोमश तथा दागयुक्त होते हैं। पुष्प— चमकीले रंग के, अक्षीय गुच्छबद्ध मंजरियों में होते हैं जिनसे प्रायः समस्त शाखायें भरी रहती हैं। फल— अंडाकार पतला होता है जिसमें भूरे रंग के छोटे, चिकने, अभिलट्टाकार बीज होते हैं।

जनवरी—अप्रैल तक इसमें पुष्प आते हैं, फल अप्रैल—मई में लगते हैं। फरवरी—मार्च में जब यह फूलों से भरी रहती है, इसकी पत्तियां झड़ जाती हैं। फिर नये पल्लव निकलते हैं।

15.14.3 उत्पत्तिस्थान — यह समस्त भारत में ५हजार फीट की ऊंचाई तक होता है। प्रायः बंगाल की जलीय प्रदेश और दक्षिण भारत में नहीं देखा जाता।

15.14.4 रासायनिक संघटन — इसके पुष्पों से एक लाल रंग निकाला जाता है जो रंगने के काम आता है। पुष्पों में टैनिन 24 तथा शर्करा 11.8 प्रतिशत होती है। पत्तियों में 12-20प्रतिशत टैनिन तथा मेंहदी का रंजक पदार्थ लॉसोन होता है। छाल में 20-27प्रतिशत टैनिन होता है। इसके काण्ड से एक गोंद भी निकलती है।

15.14.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफपैतिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

15.14.6 प्रयोज्य अंग — पुष्प

15.14.7 मात्रा — चूर्ण 1-3ग्राम।

15.14.8 विशिष्ट योग— धातक्यादि चूर्ण, धातक्यादि तैल।

15.15 भूम्यामलकी

15.15.1 नाम— लै०— फाइलेन्थस यूरीनेरिया (*Phyllanthus urinaria*), सं०— भूम्यामलकी, भूधात्री, तामलकी, बहुपत्रा, बहुफला, हि०— भुई आंवला, बं०— भुई आंवली, गु०— भोंय आंवली।

कुल— एरण्ड— कुल युफार्बिएसी (*Euphorbiaceae*).

15.15.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका शाखा—प्रशाखायुक्त क्षुप 1/2 से 1 फुट ऊँचा होता है। पत्ते आंवले की तरह किंतु कुछ चौड़े होते हैं। पुष्प छोटे पीतवर्ण, फल आंवला के सदृश गोलाकार होते हैं। वर्षा ऋतु में यह क्षुप उत्पन्न होता है। शरद ऋतु में पुष्प और बाद में फल लगते हैं। ग्रीष्म में यह सूख जाता है।

उत्पत्ति स्थान— यह समस्त भारत में विशेषतः उष्ण प्रदेश में होता है।

15.15.3 गुण—कर्म— रस— तिक्त, कषाय, मधुर गुण— लघु, रूक्ष वीर्य— शीत विपाक— मधुर

दोषकर्म— यह कफ—पित्त शामक है। व्रणरोपण, शोथहर, कुष्ठघ्न, दीपन, पाचन, यकृत उत्तेजक, अनुलोमन, तृष्णा निग्रहण, रक्तशोधक, योनिदोशहर, प्रमेहघ्न है।

15.15.4 प्रयोग— अरूचि, अग्निमांद्य, तृष्णा, कामला, अम्लपित्त में देते हैं। जीर्ण विषम ज्वर में इसके पंचांग का क्वाथ देते हैं, इससे ज्वर रूकता है और यकृत प्लीहा की वृद्धि शांत होती है। कास, श्वास, हिक्का में इसके मूल का स्वरस चीनी के साथ देते हैं। प्रमेह में विशेष लाभकारी है।

विशेष प्रयोग— (1) इसकी 1.25 तोला ताजी जड़ को दूध के साथ पीसकर पिलाने से कामला नष्ट होता है।

(2) इसके पंचांग का क्वाथ पिलाने से मूत्रवृद्धि होकर जलोदर नष्ट होता है।

(3) इसकी जड़ के चूर्ण को चावलों के धोवन (पानी) से देने से स्त्रियों का रक्त प्रदर में 2-3 दिन में ही लाभ होता है।

(4) इसके 2 तोला रस सेवन करने से मूत्रकृच्छ में लाभ होता है। मूत्रदाह नष्ट होता है। मूत्राशय शोधन में यह हितकर है।

15.15.5 प्रयोज्य अंग— पंचांग।

15.15.6 मात्रा— स्वरस— 10 से 20 मि०ली०, चूर्ण— 3 से 5 ग्राम।

अभ्यास प्रश्न :— लघुउत्तरीय

iz'u % 1 dkyes/k dk iz;ksT;kax crkb,A

iz'u % 2- HkwE;kEydh dk okuLifrd uke crk,aA

iz'u 3- ,d d'fe?u nzO; dk uke crk,aA

iz'u 4- fcYo dk ySfVu uke crkb;sA

15.16 सारांश

bl bdkbZ esa vkus lkekU;r% vfrlkj] vEYfiRr] laxzg.kh] esa dke vkus okyh rFkk ;d`r ,oa lyhgk ij fo'ks"k :i ls dk;Z djus okys nzO;ksa ds Lo:i] xq.k/keZ] fofo/k iz;ksx] iz;ksT; vax] ek=k] fo'k"V ;ksx] miyC/krk ds fo"k; esa foLr`r tkudkj izklr dhA HkwE;keydh] /kkrdh vkfn ,sls {kqi gSa tksfd o"kkZ _rq esa lgt gh loZ= miyC/k gksrs gSa] ;fn bl _rq ds i'pkr ge budk laxzg djds j[k ysa] rks iwjs o"kZ bldk ykHk mBk ldrs gSaA dkyes?k] 'kjiqa[kk ;d`r ,oa lyhgk ij dk;Z djus okyh vfrh; vkS"kf/k;kWa gSaA bl ikB esa bZlcxksy] gjhrdh] foMax] ukxjeksFkk] dqVt vkfn ds ckjs esa tkudkj feyh gksxh tks mnjksxksa dh fpdfRik esa ykHkdj gSaA

15.17 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अं०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।

15.18 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1- पंचांग, 2- Phylanthus urinaria, 3- विडंग, 4- Aegle marmelose

15.19 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

15.20 निबंधात्मक प्रश्न

- 1- fcYo ds mi;ksx ds ckjs esa foLrkj ls crkb;sA
- 2- /kkrdh ds xq.k] deZ crkb;sA

इकाई Z & 16 श्वसन संस्थान सम्बन्धी व्याधियों में काम आने वाली औषधियां

- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 उद्देश्य
- 16.3 भारंगी
16.3.1 नाम 16.3.2 स्वरूप एवं परिचय 16.3.3 उत्पत्ति स्थान 16.3.4 गुण—कर्म—
रस 16.3.5 प्रयोज्य अंग 16.3.6 मात्रा 16.3.7 विशिष्ट योग
- 16.4 वासा
16.4.1 नाम 16.4.2 स्वरूप एवं परिचय 16.4.3 उत्पत्ति स्थान 16.4.4 गुण—कर्म—
रस 16.4.5 प्रयोज्य अंग 16.4.6 मात्रा 16.4.7 विशिष्ट योग
- 16.5 कंटकारी
16.5.1 नाम 16.5.2 स्वरूप एवं परिचय 16.5.3 गुण—कर्म— गुण 16.5.4 प्रयोज्य
अंग 16.5.5 मात्रा 16.5.6 विशिष्ट योग
- 16.6 बहेड़ा (विभीतकी)
16.6.1 नाम 16.6.2 स्वरूप एवं परिचय 16.6.3 उत्पत्ति स्थान 16.6.4 गुण—कर्म—
गुण 16.6.5 प्रयोज्य अंग 16.6.6 मात्रा 16.6.7 विशिष्ट योग
- 16.7 तालीश
16.7.1 नाम 16.7.2 स्वरूप 16.7.3 उत्पत्तिस्थान 16.7.4 रासायनिक संघटन 16.7.5
प्रयोज्य अंग 16.7.6 मात्रा 16.7.7 विशिष्ट योग
- 16.8 मरिच
16.8.1 नाम 16.8.2 स्वरूप 16.8.3 रासायनिक संघटन 16.8.4 प्रयोग 16.8.5
प्रयोज्य अंग
16.8.6 मात्रा 16.8.7 विशिष्ट योग
- 16.9 गोजिह्वा
16.9.1 नाम 16.9.2 स्वरूप 16.9.3 उत्पत्तिस्थान 16.9.4 रासायनिक संघटन 16.9.5
प्रयोग 16.9.6 प्रयोज्य अंग 16.9.7 मात्रा 16.9.8 विशिष्ट योग
- 16.10 खूबकलाँ
16.10.1 नाम 16.10.2 स्वरूप 16.10.3 उत्पत्तिस्थान 16.10.4 रासायनिक
संघटन 16.10.5 प्रयोग 16.10.6 प्रयोज्य अंग 16.10.7 मात्रा
- 16.11 पिप्पली
16.11.1 नाम 16.11.2 स्वरूप 16.11.3 उत्पत्तिस्थान 16.11.4 रासायनिक
संघटन 16.11.5 प्रयोग 16.11.6 प्रयोज्य अंग 16.11.7 मात्रा 16.11.8
विशिष्ट योग
- 16.12 वनफशा
16.12.1 नाम 16.12.2 स्वरूप 16.12.3 उत्पत्तिस्थान 16.12.4 रासायनिक
संघटन 16.12.5 प्रयोग 16.12.6 प्रयोज्य अंग 16.12.7 मात्रा 16.12.8 विशिष्ट
योग

16.13 सोम

16.13.1 नाम 16.13.2 स्वरूप 16.13.3 उत्पत्तिस्थान 16.13.4 रासायनिक संघटन
16.13.5 प्रयोग 16.13.6 प्रयोज्य अंग 16.13.7 मात्रा 16.13.8 विशिष्ट योग

16.14 सारांश

16.15 शब्दावली

16.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

16.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

16.18 निबंधात्मक प्रश्न

16.1 प्रस्तावना

श्वसन तंत्र के अन्तर्गत कंठ, श्वासनलिका, फुफ्फुस आते हैं। हमारे बोलने, अपनी बात व्यक्त करने के लिए स्वस्थ कंठ आवश्यक है यदि गले में संक्रमण हो जाए तो हमारी वाणी में फर्क पड़ जाता है। इसी प्रकार श्वासनली व फुफ्फुस का स्वस्थ रहना भी आवश्यक है अन्यथा खांसी, ज्वर, कफ से हम बेचैन हो जाते हैं। श्वसन तंत्र के संक्रमण से मृत्यु तक हो सकती है। हमारे आस-पास पाई जाने वाली भारंगी, कंटकारी, वासा, शुण्ठी व विभीतकी जैसी सामान्य औषधियां गले व श्वसन संस्थान के सभी रोगों को दूर करने में सक्षम हैं।

16.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर हम मुख्य श्वासकासहर औषधियों के बारे में जान पाएंगे। श्वासकासहर वनौषधियों की पहचान, उपयोगिता, उपलब्धता और उसके गुणकर्मों के बारे में जान सकेंगे। ये समझ सकेंगे कि इनको किस प्रकार से उपयोग करने से ये किन रोगों को नष्ट करने में सक्षम हैं।

16.3 भारंगी

16.3.1 नाम— लै०— क्लेरुडेन्ड्रम सेरैटम (Clerodendrum serratum)] सं०— भारंगी, ब्राह्मणयष्टिका, पद्मा, हि०— भारंगी, बं०— वामुनहाटी, गु०— भारंगी, ता०— अंगारवल्ली, क०— गंतुबरंगी, मल०— कंकभरनी।

कुल— निर्गुंडी कुल वर्बिनेसी (Verbenaceae).

16.3.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका झाड़ीदार क्षुप प्रायः 2 से 8 फुट ऊँचा होता है। पत्र 3 से 6 इंच लंबे, 2 से 3 इंच चौड़े, लंबे आयताकार होते हैं। पुष्प मंजरी—रोमश 6 इंच लंबी, 1 इंच चौड़ी होती है जिसकी पार्श्वक शाखाओं पर गुच्छों में नीले या श्वेत वर्ण सुगंधित पुष्प आते हैं। फल— गोलाकार 1/4 इंच लंबे, 1/6 से 1/2 इंच चौड़े, मासल पकने पर जामुनी रंग के हो जाते हैं।

16.3.3 उत्पत्ति स्थान— यह हिमालय से पूर्व की ओर विशेषतः नेपाल, कुमायूँ, पश्चिमी बंगाल और बिहार में 4000 फीट की ऊँचाई तक होता है।

16.3.4 गुण—कर्म— रस— तिक्त, कटु गुण— लघु, रूक्ष
वीर्य— उष्ण विपाक— कटु

दोषकर्म— यह उष्ण होने के कारण कफ—वात शामक है।

संस्थानिक कर्म— यह रक्तोत्क्लेशक, शोथहर और व्रणपाचन है। दीपन, पाचन, अनुलोमन है। रक्तशोधक, कफघ्न, कासहर, श्वासहर है।

प्रतिश्याय, कास, श्वास एवं यक्ष्मा में लाभकर होता है। इसके मूल का स्वरस अदरख के स्वरस में मिलाकर देते हैं, तो श्वास का वेग शांत हो जाता है। व्रणों को पचाने के लिए इसकी पत्तियों का लेप करते हैं।

विशेष उपयोग— इसका चूर्ण ३ माशा की मात्रा में आवश्यकतानुसार दिन में ४ से ६ बार देने से हिक्का निवृत्त हो जाती है।

16.3.5 प्रयोज्य अंग— मूल।

16.3.6 मात्रा— 3 से 6 ग्राम।

16.3.7 विशिष्ट योग— भारंगी गुड़, भारंगी शर्करा।

16.4 वासा

16.4.1 नाम— लै०— अधाटोडा वासिका (*Adhatoda vasica*), सं०— वासा, वासक, वासिका, आटरूषक, सिंहास्य, वाजिदन्त, हि०—अडूसा, बाकस, बं०— बाकस, पं०—वांसा, म०—अड्डलसा, गु०— आरडुसो, ता०—एधाडड, ते०— आडासारा, अं०— मलाबार नट (*Malabar Nut*).

कुल— वासा कुल एकैन्थेसी (*Acanthaceae*).

16.4.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका झाड़ीदार क्षुप 4 से 8 फुट ऊँचा होता है।

पत्र— 3 से 8 इंच लंबे, दुर्गंधयुक्त, अंडाकार, भालाकार होते हैं।

पुष्प— श्वेत वर्ण, बड़े 1 से 3 इंच लंबी मंजरियों में लगे रहते हैं। प्रायः एक साथ अनेक मंजरियाँ निकलती हैं।

फली— 3/4 लंबी रोमश, मुद्गराकार होती है जिसमें 4 बीज होते हैं। पुष्प फरवरी—मार्च में आते हैं।

16.4.3 उत्पत्ति स्थान— यह समस्त भारत में 4000 फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

16.4.4 गुण—कर्म— रस— तिक्त, कषाय गुण— रूक्ष, लघुवीर्य— शीत विपाक— कटु **दोषकर्म**— यह लघु, रूक्ष तथा तिक्त कषाय होने से कफ व पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक प्रयोग—वाह्य— चर्मरोग, आमवात, व्रणशोथ, नाड़ीशूल में इसके कल्क का लेप करते हैं। अपतंत्रक, अपस्मार में इसके सिद्ध तैल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यंतर नाड़ी संस्थान— यह प्राणदा नाड़ी को अवसादित करता है।

पाचन संस्थान— कषाय और शीत होने से स्तंभन है।

रक्तवह संस्थान— यह हृदयरोग नाशक है। अधिक मात्रा में देने से हृदपेशी एवं उसकी नाड़ी को अवसादित करने के कारण रक्तभार को कुछ कम करता है। रक्तशोधक और स्तंभन भी है, क्योंकि यह छोटी रक्तवाहनियों को संकुचित करता है।

श्वसनतंत्र— यह कफ को पतला कर बाहर निकालता है तथा श्वास नलिकाओं का प्रसार करता है। इस प्रकार यह श्लेष्महर, कासहर, कंठ्य, श्वासहर है।

दोष प्रयोग— इसका प्रयोग कफ पित्त विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग— इसकी पत्तियों का लेप शोथहर, वेदनास्थापन, जंतुघ्न तथा कुष्ठघ्न है। स्तंभन होने से अतिसार एवं प्रवाहिका विशेषतः रक्तज में प्रयुक्त होता है।

श्वसन संस्थान— यह कास—श्वास एवं यक्ष्मा में अतीव उपयोगी है। इससे कफ पतला होकर आसानी से बाहर निकलता है। कास का जो निरंतर वेग आता रहता है वह कम होता है। श्वास नलिकाओं का प्रसार होकर दम फूलना कम हो जाता है और यदि कफ के साथ या खाँसी के बाद मुँह में रक्त आता हो तो वह भी बंद हो जाता है। इसके अतिरिक्त क्षय, ज्वर आदि भी दूर होते हैं। पत्तियों के चूर्ण में थोड़ी धतूरे की पत्ती मिलाकर धूम्रपान करने से श्वास का वेग शांत हो जाता है।

सात्मीकरण— यह क्षयरोग में प्रयुक्त होता है, क्योंकि यह धात्वाग्नियों को उद्दीप्त कर, धातु निर्माण की क्रिया को ठीक करता है।

विशेष उपयोग— इसमें कृमिनाशक अपूर्व शक्ति है। तालाब या कुओं के पानी में कीड़े पड़ गए हों तो इसके पत्तों का रस डालने से कीड़े मर जाते हैं। चारपाई के नीचे इसकी छोटी-छोटी टहनियाँ रखने से कीड़े भाग जाते हैं।

16.4.5 प्रयोज्य अंग— मूल, पत्र और पुष्प।

16.4.6 मात्रा— पत्र स्वरस 10 से 20 मि०ली०, पुष्प स्वरस 10 से 20 मि०ली०, मूलक्वाथ 40 से 80 मि०ली०, चूर्ण 2 से 4 ग्राम।

16.4.7 विशिष्ट योग— वासावलेह, वासारिष्ट, वासापानक, वासाचंदनादि तैल।

16.5 कंटकारी

16.5.1 नाम— लै०— सोलेनम सुराटेन्स (*Solanum surattense*), सं०— कंटकारी, दुःस्पर्शा, क्षुद्रा, व्याघ्री, निदिग्धिका, हि०— छोटी कटेरी, भटकटैया, रेंगनी, पं०— कंडियारी, म०— भुईरिंगणी, गु०— भोयरिंगणी, बं०— कंटिकारी, त०— कंडनकत्तरि, ते०— कूदा, अं०— बादजान बरी, अं०— येलो बैरीड नाईट शेड (*Yellow Berried Night Shade*).

कुल— कंटकारी कुल सोलेनेसी (*Solanaceae*).

16.5.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका बहुवर्षीय, कंटकित, प्रसरी क्षुप 1 से 4 फुट के व्यास में फैला, चमकीले, हरे रंग का होता है। काटे पीले रंग के 1½ इंच लंबे, पत्र 4-5 इंच, इंतुर एवं लट्वाकार होते हैं। पुष्प नील वर्ण, 1-1¼ इंच व्यास के होते हैं। फल गोलाकार कच्ची अवस्था में हरितवर्ण और श्वेतरेखांकित तथा पकने पर पीतवर्ण हो जाते हैं। बीज छोटे तथा चिकने होते हैं। दिसंबर से जून तक पुष्प और फल आते हैं।

जति— (1) नीलपुष्पा और (2) श्वेतपुष्पा।

उत्पत्ति स्थान— यह प्रायः समस्त भारत में सहज ही उत्पन्न हो जाता है।

16.5.3 गुण—कर्म— गुण— लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण रस— तिक्त, कटु विपाक— कटु वीर्य— ऊष्ण

कफ—वात शामक, वेदना स्थापन, शोथहर, कृमिघ्न, संज्ञा प्रबोधन, दीपन, पाचन, रेचन, रक्तशोधक, कासहर, कंठ्य, हिक्का निग्रहण, मूत्रल, गर्भाशय संकोचक, बाजीकरण, गर्भस्थापन, ज्वरघ्न, स्वेदनजन।

दंतरोगों में और अर्श में बीजों की धूनी देते हैं। पीनस में व्याघ्री तैल का प्रयोग करते हैं। बच्चों के जीर्ण कास में इनके फलों का चूर्ण मधु से देते हैं। कास—श्वास में व्याघ्री हरीतकी का प्रयोग करते हैं। गर्भस्थापन के लिए श्वेतपुष्पा कंटकारी का उपयोग किया जाता है।

भयंकर श्वास रोग में इसके फलों के क्वाथ में हींग भुनी हुई, एक से दो माशे तक तथा उतना ही सेंधा नमक मिलाकर सेवन करने से विशेष लाभ होता है।

इसके फल या सर्वांग को जलाकर की हुई काली भस्म 1 रत्ती से 1 माशा तक शहद के साथ चाटने से कास तथा तमक श्वास के दौरों में अच्छा लाभ होता है।

1 तोला कंटकारी मूल चूर्ण, 1 तोला आंवला चूर्ण, 6 माशा शुद्ध हींग एकत्र कर खरल कर तीन से छः माशे तक शहद से दिन में 2 बार सेवन से शीघ्र ही तमक श्वास में लाभ होता है।

16.5.4 प्रयोज्य अंग— पत्र, मूल, फल।

16.5.5 मात्रा— पत्र स्वरस 3 से 6 माशे, मूलचूर्ण 1 से 2 माशे, फल या पुष्प चूर्ण 1 से 3 माशे, क्वाथ 1.5 से 4 माशे।

16.5.6 विशिष्ट योग— कंटकार्यारिष्ट, कंटकारी अर्क, कंटकारी अवलेह, कंटकारी घत, कंटकारी क्षार, दशमूलारिष्ट, व्याघ्री तैल, व्याघ्री हरीतकी, अमृतारिष्ट, कफकुठार रस।

16.6 बहेड़ा (विभीतकी)

16.6.1 नाम— लै०— टर्मिनेलिया बेलेरिका (*Terminalia bellirica*), सं०— विभीतक, कर्षफल, अक्ष, कलिद्रुम, म०, गु०— बहेड़ा, बं०— बयड़ा, ता०— अक्कम्, ते०— ताड़ि, अं०— बेल्लिक मिरोबेलन (*Belliric Myrobalan*).

कुल— काम्ब्रेटेसी (*Combretaceae*).

16.6.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका वृक्ष 60 से 80 फीट ऊँचा होता है। कांड लंबा, सीधा, गोल 8 से 30 इंच व्यास का रहता है। इसकी वाह्य त्वक् गाढ़े भूरे रंग की तथा कांडसार कठिन होता है। पत्र 3 से 8 इंच लंबे, एकांतर और समूहबद्ध रहते हैं। पत्रवृंत 1 से 3.5 इंच लंबा होता है।

पुष्प मंजरियों पर लगे रहते हैं। रंग में श्वेत या पीली आभा लिए होते हैं। फल 1/3 से 3/4 इंच व्यास का, रंग में धूसर, रोमयुक्त, गोलाकार होता है। वृंत के पास यह सँकरा हो जाता है। सूख जाने पर धारीदार, पंचकोणीय दिखता है। फल बीज युक्त होता है।

फरवरी—मार्च में नये ताम्रवर्ण के पत्ते निकलते हैं। उसी के साथ पुष्प निकलना भी शुरू होते हैं। फल अगले जनवरी तक पक जाते हैं। वृक्ष से निर्यास भी निकलता है।

16.6.3 उत्पत्ति स्थान— इसका वृक्ष भारत व म्यांमार (बर्मा) में विशेषतः पर्वतीय प्रदेशों में अधिक होते हैं।

16.6.4 गुण-कर्म— गुण— रूक्ष, लघु रस— कषाय

विपाक— मधुर वीर्य— उष्ण

त्रिदोषहर किंतु विशेष रूप से कफ पर कर्म करता है। शोथहर, वेदनास्थापन, रक्त स्तम्भन, कृष्णीकरण, मादक, दीपन, अनुलोमन, कृमिघ्न, तृष्णा निग्रहण, छर्दि निग्रहण, कफघ्न, ज्वरघ्न, चक्षुष्य।

बहेड़े की छाल का चूर्ण 2 भाग, पिप्पली का चूर्ण 1 भाग एकत्र कर मिलाकर रखें।

2-3 माशा की मात्रा में शहद के साथ चाटने से भी खॉसी दूर होती है।

बहेड़ा छाल, अतीस, नागरमोथा, पिप्पली, भारंगी व सोंठ समभाग का चूर्ण कर ३ माशा तक की मात्रा में मधु या उष्ण जल के साथ दिन में दो बार नियम से पथ्यपूर्वक सेवन से कास—श्वास तथा अपतंत्रक में शीघ्र लाभ होता है।

नाभी टलने पर बहेड़े का क्वाथ 1-1 घंटे के अंतर से 3-4 बार पिलाने से नाभि उचित स्थान पर स्थित हो जाती है।

कंठ में ब्रण हो तो आग में भुने हुए फल के छिलके मुख में रखकर धीरे-धीरे चूसते रहने से लाभ होता है। इसका अर्धपक्व फल रेचन होता है, अतः विबंध में प्रयुक्त एवं पक्व फल ग्राही होता है। अतः अतिसार में प्रयुक्त करते हैं।

16.6.5 प्रयोज्य अंग— फल।**16.6.6 मात्रा—** चूर्ण 3 से 6 ग्राम।

16.6.7 विशिष्ट योग— विभीतक तैल, त्रिफला चूर्ण, फलत्रिकादि क्वाथ, तालिसीद चूर्ण, लवंगादि वटी।

16.7 तालीश**16.7.1 नाम —** लैटिन — एबीज वेबियाना (Abies webbiana Lindle)

संस्कृत — तालीश, धातीपत्र

हिन्दी — तालीशपत्र

अंग्रेजी — हिमालयन सिल्वर फर (Himalayan silver fir)।

कुल — देवादारू —कुल — पाइनेसी (Pinacea)।

16.7.2 स्वरूप — इसके सदाहरित, काले दृढ पत्राच्छादित वृक्ष 150- 200 फीट ऊँचे होते हैं। काण्ड की परिधि प्रायः 30फीट होती है। शीर्ष गोलाकार तथा शाखायें समानान्तर फैली रहती है। नवीन शाखायें सूक्ष्म और भूरे रंग के रोमों से ढंकी और झुकी हुई होती है। पत्र 1-2इंच लंबे, चौड़े, रेखाकार, चपटे, हरितवर्ण, चमकीले, नताग्र और अग्रभाग पर दो तीक्ष्ण और कठोर नोकों से युक्त होते हैं। पत्रोदर पर एक नलिका सी होती है। पत्रपृष्ठ पर मध्यसिरा उठी रहती है। पत्रवृन्त अत्यन्त छोटा होता है। पत्र 8-10 वर्षों तक वृक्ष पर स्थायी रहते हैं। ये कांड में पेंचदार क्रम में निकलते हैं। किन्तु देखने में दो पंक्तियों में निकले मालूम होते हैं। पुंपुष्प—अवृन्त, एकाकी या गुच्छों में होते हैं। स्त्रीफल— लंबगोल 4-6 इंच लंबा व्यास का, वर्षपाकी होता है। बीज— आधे से एक इंच लंबे पक्ष से युक्त, अंडाकार या आयताकार होते हैं।

16.7.3 उत्पत्तिस्थान — यह सिक्किम, भूटान तथा पश्चिमी हिमालय में 7-12 हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

16.7.4 रासायनिक संघटन — इसके पत्र में एक उड़नशील तैल होता है। पेड़ से एक सफेद राल भी निकलती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण — क्षयरोग एवं दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

16.7.5 प्रयोज्य अंग — पत्र।

16.7.6 मात्रा — चूर्ण 2-5ग्राम।

16.7.7 विशिष्ट योग — तालीशादि चूर्ण, तालीशादि वटी।

16.8 मरिच

16.8.1 नाम — लैटिन पाइपर नाइग्रम (piper nigrum)।

संस्कृत — मरिच, वेल्लज (लताओं में होने वाला), कृष्ण (फल कृष्णवर्ण), उष्ण (कटु), सुवृत्त (फल गोलाकार),

हिन्दी — कालीमिर्च, गोल मिर्च, मिरिच,

अंग्रेजी — ब्लैक पेपर (Black pepper)।

16.8.2 स्वरूप — इसकी बहुवर्षायु, शाखान्वित, झाड़ीदार, आरोहिणी लता होती है जो नारियल, सुपाड़ी आदि के वृक्षों पर चढ़ी रहती है या बांस गाड़ कर उसके सहारे चढ़ाई जाती है। शाखायें दृढ़ और प्रसरणशील हैं तथा इनके पर्वों से मूल बाहर निकलते हैं जिनके द्वारा यह वृक्षों पर चिपकी रहती है। पत्र ताम्बूलाकार 5-7 इंच लम्बे, 2-5 इंच चौड़े, 2-3जोड़ी दृढ़ सिराओं से युक्त होते हैं पुष्प छोटे और एकलिंगी मंजरियों में होते हैं किन्तु प्रायः स्त्री पुष्पों में दो परागकोष तथा पुंपुष्पों में एक स्त्रीकेशर होता है। द्विलिंगी पुष्प जितने अधिक होंगे, उपज उतनी ही अधिक होगी। फल गोल या अण्डाकार गुच्छों में होते हैं। ये कच्चे में हरे औ पकने पर रक्तवर्ण तथा सूखने पर कृष्णवर्ण हो जाते हैं। बीज प्रायः गोलाकार, बीजावरण पतला और बीजमज्जा कठिन होती है। जून—जुलाई में पुष्प आते हैं तथा दिसम्बर से मार्च तक फल आते हैं तथा दिसम्बर से मार्च तक फल आते हैं जब इनका संग्रह किया जाता है। एक पौधा 25-30 वर्षों तक अच्छी उपज देता है उसके बाद फलों में कमी आने लगती है। कभी—कभी 100वर्षों तक फल देते देखा गया है। प्रायः साल में दो उपज ली जाती है। एक अगस्त—सितम्बर तथा दूसरी मार्च—अप्रैल।

जाति — संहितओं तथा निघण्टुओं ने श्वेत मरिच का उल्लेख किया है। कुछ ने शिग्रुबीज को श्वेतमरिच कहा है। वस्तुतः काली मिर्च के पके फलों को पानी में भिगों कर छिलका उतार कर सफेद मिर्च के नाम से बेचते हैं। छिलका हटाये जाने के कारण इसमें कटुता और तीक्ष्णता कम होती है। शिग्रुबीज इसके प्रतिनिधि रूप में प्रचलित है।

उत्पत्तिस्थान — यह मलेशिया, इण्डोनेशिया, श्रीलंका और भारत में होता है। उष्ण और आर्द्र प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है। भारत में केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक,

और कुछ आसाम में इसकी खेती होती है। व्यापार में मुख्यतः दो प्रसिद्ध हैं एक मालाबार और दूसरी तेलचेरी की।

16.8.3 रासायनिक संघटन — फलत्वक् में पाइपरिन (Piperine), पाइपरिडिन (Piperidine), पाइवरेटिन (Pipretine) तथा चविकिन (Chavicine) होते हैं। इन्हीं क्षाराभों के कारण मरिच में कटुता होती है। इसके अतिरिक्त, सुगन्धित उड़नशील तेल तथा वसा, सूत्र, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, खनिजपदार्थ, कैल्शियम, फास्फोरस, लौह, थियामिन, राइबोफ्लेबिन, निकोटिन अम्ल तथा विटामिन ए होता है। मरिच तेल बनाने के लिये प्रायः छोटे हुये फलों और छिलकों का उपयोग किया जाता है।

16.8.4 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण — स्रोतरोध दूर करने के लिये उपयोगी है।

16.8.5 प्रयोज्य अंग — फल

16.8.6 मात्रा — आधा से एक ग्राम

16.8.7 विशिष्ट योग— मरिचाद्य चूर्ण, मरिचाद्य गुटिका, मरिचाद्य तैल, मरिचाद्य घृत।

16.9 गोजिह्वा

16.9.1 नाम — लैटिन — ओनोस्मा ब्रैक्टिएटम (Onosma bracteatum)

संस्कृत — गोजिह्वा, खरपत्रा

हिन्दी — गाजबाँ कुल — श्लेष्मातक — कुल — (बोरेजिनेसी —Boraginaeae) ।

कुल — श्लेष्मातक — कुल — (बोरेजिनेसी —Boraginaeae) ।

16.9.2 स्वरूप — इसका छोटा क्षुप 15 इंच ऊँचा, दृढ़ तथा रोमश होता है। मूलीय पत्र— 6 इंच

लंबे, 3/4 इंच चौड़े, लंबाग्र, उर्ध्व पृष्ठ पर रोमश होते हैं तथा रोमों के मूल गाँठदार होते हैं जिससे समूचा पृष्ठ गाय की जीभ के समान खुरदरी प्रतीत होता है। ऊपर के पत्र भालाकार और नीचे के लट्वाकार भालाकार होते हैं। पुष्प— बैंगनी रंग के, सघन, रेशमी मुंडकों में लगते हैं। फल में 1 इंच लंबे रेखाकार बहिर्दल लगे रहते हैं। फल— 1/6 इंच लंबे, भूरे तीक्ष्णाग्र, अण्डाकार होते हैं। पत्तों को जल में भिगोने से लुलाब निकलता है। हकीम लोग पत्तों को 'वर्क गावजवान' तथा पुष्पों को 'गुले गावजवान' कहते हैं।

16.9.3 उत्पत्तिस्थान — यह कश्मीर तथा कुमाऊँ में 11,500 फीट की ऊँचाई तक होता है। ईरान और अफगानिस्तान में भी मिलता है।

16.9.4 रासायनिक संघटन — पत्तियों में पिच्छिल द्रव्य प्रचुर परिमाण में होता है। इसके अतिरिक्त सोडियम, पोटेशियम, कैल्शियम, लौह एवं मैगनीशियम के लवण होते हैं।

16.9.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह वातपैक्तिक रोगों में उपयुक्त होता है।

सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य में यह दिया जाता है।

16.9.76 प्रयोज्य अंग — पत्र, स्वरस

16.9.7 मात्रा — पत्र 3-6 ग्राम, पुष्प 3-6 ग्राम।

16.9.8 विशिष्ट योग— अर्क गावजवां, वनफशादि क्वाथ।

16.10 खूबकलाँ

16.10.1 नाम — लैटिन — सिसिम्ब्रियम आइरिओ (Sisymbrium irio)

हिन्दी — खूबकलाँ

अंग्रेजी — हेज मस्टर्ड (Hedge mustard)।

कुल — राजिका — कुल — (क्रुसीफेरी — Cruciferae)।

16.10.2 स्वरूप — इसका सरसों के समान वर्षायु या द्विवर्षायु क्षुप 2-3 फीट ऊँचा, चिकना होता है। पत्र— सवृन्त, पक्षवत् या खण्डित, दूर-दूर पर फैले हुए तथा दन्तुर होते हैं। अन्तिम खण्ड बड़ा होता है। पुष्प— पीतवर्ण, छोटे मंजरियों में लगते हैं। फली— डेढ़ से दो इंच लंबी पतली, सीधी तथा चिकनी होती है। वृन्त मुड़ा होता है। इसके बीज रक्ताभ पीतवर्ण अत्यन्त छोटे होते हैं। बीजों को जल में भिगोने से लुआव उत्पन्न होता है।

16.10.3 उत्पत्तिस्थान — यह उत्तर भारत में राजस्थान से पंजाब तक तथा अफगानिस्थान, ईरान और यूरोप में उत्पन्न होता है।

16.10.4 रासायनिक संघटन — पत्तियों में विटामिन ए और सी, प्रोटीन तथा खनिज होते हैं। बीजों में आइसोरेमनेटिन (isorhamnetin) तथा एक तैल 18-20 प्रतिशत होता है।

16.10.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह वातजन्य विकारों तथा कफरोगों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण — यह सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

16.10.6 प्रयोज्य अंग — बीज

16.10.7 मात्रा — 3-6 ग्राम।

16.11 पिप्पली

कुल — पिप्पली — कुल — (पाइपरेसी — Piperaceae)।

16.11.1 नाम — लैटिन — पाइपर लौंगम (Piper longum)

संस्कृत — पिप्पली

हिन्दी — पीपल

अंग्रेजी — लौंग पीपर (Long Pepper)

16.11.2 स्वरूप — पिप्पली की गंधयुक्त लता होती है जो भूमि पर फैलती है या दूसरे वृक्षों के सहारे ऊपर उठ जाती है। पत्र— 2-3 इंच लंबे, पान के सदृश, एकान्तर होते हैं। नीचे की पत्तियां दीर्घवृन्त, गहरे हृदयाकृति प्रायः लट्वाकार या गोलाकार ऊपर की पत्तियां आयताकार अवृन्त या काण्डसंसक्त होती है। इन पर पांच सिरायें होती हैं जिनमें प्रमुख सिरायें अग्रभाग पर प्रायः मिल जाती हैं और दो पार्श्व में प्रायः

मध्य तक रह जाती है। पुष्प— एकलिंगी, अलग-अलग लताओं पर होते हैं। पुंपुष्पदण्ड 1-3 इंच लंबा और स्त्रीदण्ड आधे से एक इंच लंबा होता है। फल— लंबी शुण्डाकार होती है। पकने पर इसका वर्ण रक्त होता है, सूखने पर कृष्णाभ धूसरवर्ण हो जाता है। फल १ इंच व्यास के होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प और शरदकाल में फल आते हैं।

जाति— राजनिघण्टु में चार प्रकार की पिप्पली बतलाई गई है (1) पिप्पली (2) गजपिप्पली (3) सिंहली (4) वनपिप्पली।

16.11.3 उत्पत्तिस्थान — भारत के उष्णप्रदेशों में यथा बंगाल, बिहार, आसाम पूर्वी नेपाल, कोंकण से त्रावनकोर तक पश्चिमी घाट के वन, मलेशिया, इण्डोनेशिया सिंगापुर, श्रीलंका तथा निकोबार द्वीपों में होती है।

मद्रास की अन्नामलाई पहाड़ियों तथा आसाम के चेरापूँजी क्षेत्र में इसकी खेती की जाती है। पिप्पलीमूल के लिये इसकी खेती आंध्र के विशाखापत्तनम जिले के पहाड़ी इलाकों में की जाती है।

भारत से अफगानिस्तान, पाकिस्तान तथा श्रीलंका को पिप्पली का निर्यात होता है।

16.11.4 रासायनिक संघटन — इसमें सुगंधित तैल, पाइपरीन (Piperine) तथा पिपलार्टिन (Piplartine) नामक क्षाराभ पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त दो नये तरल क्षाराभों का भी पता चला है। सिसेमिन (Sesamin) तथा पिपलार्स्टिरॉल (Piplartine) भी पाये जाते हैं। पिप्पली—मूल में पाइपरिन, पिपलार्टिन पाइपरलौगुमिनिन, एक स्टेरायड तथा ग्लुकोसाइड पाये जाते हैं।

16.11.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — इसका प्रयोग कफवात—रोगों में किया जाता है।

सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं। रसायनकर्म के लिए वर्धमानपिप्पली अधिक लाभकर है।

16.11.6 प्रयोज्य अंग — मूल, फल

16.11.7 मात्रा — चूर्ण आधे से एक ग्राम

16.11.8 विशिष्ट योग— पिप्पलीखंड, पिप्पलीगुड़, पिप्पल्यासव।

16.12 वनफशा

16.12.1 नाम — लैटिन — वायोला ओडोरेटा (Viola odorata)

हिन्दी — बनफशा

अंग्रेजी — वाइल्ड या स्वीट वायोलेट (wild or sweet violet)

कुल — बनफशा— कुल — (वायोलेसी — Viloaceae)।

16.12.2 स्वरूप — इसका क्षुप छोटा होता है काण्ड प्रायः नहीं होता। मूल दृढ़ होता है। पत्र— रोमश, हृदयकृति, गोलाग्र आधे से एक इंच व्यास के लट्वाकार, गोलदन्तुर, समूहबद्ध होते हैं। मण्डूकपर्णी की पत्तियों से मिलते जुलते होते हैं। पुष्प— नीले, बैंगनी रंग के सुगन्धित होते हैं। बहिर्दल का शीर्ष गोल होता है। इसका पंचांग वनफशा के नाम से प्रचलित है।

16.12.3 उत्पत्तिस्थान — यह कश्मीर तथा पश्चिम हिमालय के समशीतोष्ण प्रदेश में 4-6 हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। पहले ईरान से यह द्रव्य आता था। असली बनफशा यही है। उत्तरी भारत में इसके स्थान पर इसकी अन्य प्रजातियों यथा वायोला साइनेरिया (*viola cineria*) तथा वायोला सपेन्स (*viola serpens*) का प्रयोग होता है तथा इनकी मिलावट भी की जाती है। अप्रैल—जुलाई में इनका संग्रह किया जाता है।

16.12.4 रासायनिक संघटन — इसके पुष्प में 'वायोलिन' (*violin*) नामक एक कटु—तिक्त वामक द्रव्य पाया जाता है। रूटिन, सायनिन, रंगजनक पदार्थ, एक ग्लाइकोसाइड और शर्करा होती है। पत्र में एक सुगन्धित तैल, एक क्षाराभ, रंजक द्रव्य फ्रायडेलिन, बी—सिटोस्टेराल और एक अलकोहल होता है। पत्तियों में पुष्प से एक पृथक् एक विशिष्ट सुगन्ध होती है मूल में एक सैपोनिन, एक ग्लाइकोसाइड एक सुगन्धित तेल और ओडोरेटिन नामक एक क्षाराभ होता है। पुष्पों में, इसके अतिरिक्त एक उड़नशील तेल होता है।

16.12.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह वातश्लैष्मिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

16.12.6 प्रयोज्य अंग — पुष्प, पंचांग

16.12.7 मात्रा — 3-6 ग्राम।

16.12.8 विशिष्ट योग— वनफशादि क्वाथ

16.13 सोम

16.13.1 नाम — लैटिन — इफेड्रा (*Ephedra gerardiana*) पं०—असमानिया, लदाख तिपत, हि०—सोमलता।

कुल — सोम — कुल — (नेटेसी — Gnetaceae)।

16.13.2 स्वरूप — इसका झाड़ीदार पौधा 6इंच से 4फीट तक ऊँचा होता है। काण्ड— गांठदार तथा शाखायें गहरे हरे रंग की, लंबगोल, धारीदार टेड़ी—मेड़ी चक्रोत्पन्न होती है। पत्र— शल्कवत्, प्रत्येक पर्व पर दो, चक्राकार व्यवस्थित जो परस्पर संयुक्त होकर पर्व पर एक मि०मी० लंबा कोष बनाते हैं। पुष्पमंजरी— लंबी, प्रायः चक्रोत्पन्न होती है जिस पर एकलिंगी पुष्प होते हैं। फल— मधुर मांसल, सरस, अंडाकार, रक्तवर्ण कोणपुष्पक से बनता है जिससे एक या दो उन्नतोदर बीज होते हैं। भौमिक काण्ड में गेंद के आकार की गांठे होती हैं जिन्हें तिब्बती लोग ईधन के काम में लाते हैं। इनके तीन प्रकार मिलते हैं।

16.13.3 उत्पत्तिस्थान — यह तिब्बत तथा हिमालय प्रदेश में कश्मीर से सिक्किम तक 7-16 हजार फीट की ऊँचाई पर मिलता है। पहले यह बलूचिस्तान से आता था। चीन इसका प्रमुख स्रोत रहा है।

16.13.4 रासायनिक संघटन — इसमें प्रमुख क्रियाशील पदार्थ इफेड्रिन (*Ephedrine*) होता है। भारतीय प्रजातियों में इफेड्रा जिर्गार्डियाना में कुल क्षाराभ 1.22 प्रतिशत होते हैं जिसका 55.7 प्रतिशत इफेड्रिन होता है।

16.13.5 प्रयोग दोषप्रयोग — यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

16.13.6 प्रयोज्य अंग — शाखायें

16.13.7 मात्रा — चूर्ण 1-2 ग्राम।

16.13.8 विशिष्ट योग—सोमकल्प

अभ्यास प्रश्न :-

प्रश्न 1. बहेड़ा का लैटिन नाम बताइये ?

प्रश्न 2. कंटकारी के प्रयोज्यांग बताइये ?

प्रश्न 3. भारंगी का विशिष्ट योग बताइए।

प्रश्न 4. वासा का प्रयोज्यांग क्या है ?

16.14 सारांश

इस इकाई में आपने श्वसन तंत्र से संबंधित व्याधियों में सामान्यतः प्रयुक्त होने वाली प्रमुख वनौषधियों जैसे वासा, कंटकारी, मरिच, पिप्पली, गोजिहवा, भारंगी एवं विभीतकी आदि के विषय में जानकारी प्राप्त की। ये औषधियाँ हमारे आस-पास आसानी से प्राप्त हो सकती हैं। इनके स्वरूप, उत्पत्ति स्थान एवं प्रयोग ठीक प्रकार से जान लें, तो हम इन्हें पहचान कर, इनका प्रयोग से प्रारम्भिक अवस्था में रोग को बढ़ने से पहले ही ठीक कर सकते हैं। आशा है आपको इन द्रव्यों की जानकारी से अवश्य लाभ होगा।

16.15 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अ०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, तेल०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।

16.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. *Terminalia bellirica*, 2. पत्र, मूल, फल 3. भारंगी गुड़, / भारंगी शर्करा
4. पत्र, पुष्प, मूल

16.17 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

16.18 निबंधात्मक प्रश्न

- 1- पिप्पली के उपयोग के बारे में विस्तार से बताइये।
- 2- वनफशा के गुण, कर्म विसतार से बताइये।

इकाईZ & 17 तंत्रिका संस्थान सम्बन्धी व्याधियों में काम आने वाली औषधियां

17.1 प्रस्तावना**17.2 उद्देश्य****17.3 जटामांसी**

- 17.3.1 नाम 17.3.2 स्वरूप 17.3.3 उत्पत्तिस्थान 17.3.4 रासायनिक संघटन 17.3.5 प्रयोग 17.3.6 प्रयोज्य अंग 17.3.7 मात्रा 17.3.8 विशिष्ट योग

17.4 eaMwidi.khZ&czkãh

- 17.4.1 नाम 17.4.2 स्वरूप एवं परिचय 17.4.3 उत्पत्ति स्थान 17.4.4 गुण—कर्म—गुण

- 17.4.4 प्रयोग 17.4.5 प्रयोज्य अंग 17.4.6 मात्रा 17.4.7 विशिष्ट योग

17.5 वचा

- 17.5.1 नाम 17.5.2 स्वरूप 17.5.3 उत्पत्तिस्थान 17.5.4 रासायनिक संघटन 17.5.5 प्रयोग

5 प्रयोग

- 17.5.6 प्रयोज्य अंग 17.5.7 मात्रा 17.5.8 विशिष्ट योग।

17.6 'ka[kiq"ih

- 17.6.1 नाम 17.6.2 स्वरूप एवं परिचय 17.6.3 उत्पत्ति स्थान 17.6.4 गुण—कर्म—गुण 17.6.5 प्रयोग

- 17.6.6 प्रयोज्य अंग 17.6.7 मात्रा 17.6.8 विशिष्ट योग।

17.7 सर्पगन्धा

- 17.7.1 नाम 17.7.2 स्वरूप 17.7.3 उत्पत्तिस्थान 17.7.4 रासायनिक संघटन 17.7.5 प्रयोग

7.5 प्रयोग

- 17.7.6 प्रयोज्य अंग 17.7.7 मात्रा 17.7.8 विशिष्ट योग

17.8 ज्योतिष्मती

- 17.8.1 नाम 17.8.2 स्वरूप 17.8.3 उत्पत्तिस्थान 17.8.4 रासायनिक संघटन 17.8.5 प्रयोग

5 प्रयोग

- 17.8.6 प्रयोज्य अंग 17.8.7 मात्रा

17.9 कुपीलु

- 17.9.1 नाम 17.9.2 स्वरूप 17.9.3 उत्पत्तिस्थान 17.9.4 रासायनिक संघटन 17.9.5 प्रयोग

5 प्रयोग

- 17.9.6 प्रयोज्य अंग 17.9.7 मात्रा

17.9 सारांश**17.10 शब्दावली****17.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर :—****17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ :—****17.13 निबंधात्मक प्रश्न :—**

17.1 प्रस्तावना

मनुष्य अपने अनुभवों से दुनियादारी सीखता है, बचपन की पाठशाला धर होती है वहां से सीखना प्रारम्भ करके स्कूल, कॉलेज में सीखने का अवसर मिलता है। सीखने के साथ साथ मेधा भी आवश्यक है। अच्छी स्मृति किसी भी मानव को सफल बनाती है यही अतीत की यादों को प्रकट करने का बहुमूल्य सूत्र प्रस्तुत करती है। वर्तमान समय में नाना प्रकार के मानसिक तनाव व उलझनों के कारण इस मस्तिष्कीय मेधा शक्ति का क्षरण होता जा रहा है। आयुर्वेद मेधा शक्ति बढ़ाने हेतु अमृत तुल्य औषधियां वचा, ब्राह्मी, जटामांसी, शंखपुष्पी का वर्णन मिलता है जो बहुत कारगर है। नाडी शोथ के कारण होने वाली वेदना की चिकित्सा और संवेदी तंत्रिकाओं को बल देने वाले कुपीलु आदि द्रव्य तथा मानसिक उन्माद, उच्चरक्तचाप आदि में काम आने वाले सर्पगंधा जैसे द्रव्यों का इस इकाई में वर्णन किया जा रहा है।

17.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप मेधा शक्ति बढ़ाने वाली औषधियों के उपयोग, गुणकर्म, मात्रा, प्रयोज्य अंग के बारे में जान सकेंगे। इनकी पहचान, उत्पत्ति स्थान आदि के बारे में जानकारी होगी। संवेदी तंत्रिकाओं की बीमारियों में कोन सा द्रव्य कितनी मात्रा में देना चाहिए यह जान सकेंगे।

17.3 जटामांसी

17.3.1 नाम — लैटिन — नार्डोस्टैकिस जटामांसी (Nordostachys jatamansi)

संस्कृत — जटामांसी, तपस्विनी, सुलोमशा

अंग्रेजी — स्पाइकनार्ड (Spikenard)।

कुल — मांसी —कुल — (वेलिरियनेसी — Valerianaceae)।

17.3.2 स्वरूप — यह सरल बहुवर्षायु क्षुप है। इसका काण्ड 4-24 इंच लंबा होता है। मूलीय पत्र 6-8 इंच लंबे और 1 इंच चौड़े होते हैं जो पत्रवृन्त की ओर संकुचित रहते हैं तथा जिन पर अनुलम्ब नाड़ियां होती हैं। काण्डीय पत्र 1-2 जोड़े होते हैं जो 1-3 इंच लंबे, अवृन्त, आयताकार या उपलट्वाकार होते हैं। पुष्प—मुण्डक 1,3 या 5 जिन पर गुलाबी या नीले फूलों के गुच्छे होते हैं। फल— 1/6 इंच लंबे, उर्ध्वमागी सफेद रोमों से आवृत होते हैं तथा जिन पर अंडाकार, तीक्ष्णाग्र दन्तुर बहिर्दल लगे होते हैं। मूल काष्ठीय, लंबे, दृढ, गहरे और शीर्ण पत्रवृन्तों के रक्तिम भूरे सूत्रगुच्छों से आच्छन्न रहते हैं।

17.3.3 उत्पत्तिस्थान — यह 11-17 हजार फीट की ऊँचाई पर हिमालय में पंजाब से सिक्किम और भूटान तक पाया जाता है।

17.3.4 रासायनिक संघटन — इसमें मुख्य सत्व के रूप में एक उड़नशील तैल 1.9 प्रतिशत होता है। यह तैल हलके पीतवर्ण का, जल से हलका, हवा में जमने वाला, कर्पूरगन्धि और कटुतिक्त होता है। इसके अतिरिक्त, जटामांसिक और जटामांसोन नामक कार्यकारी तत्व पाये गये हैं।

17.3.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह त्रिदोषहर होने से सन्निपातिक विकारों में दिया जाता है।

सात्मीकरण — मस्तिष्क के दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

17.3.6 प्रयोज्य अंग — मूल

17.3.7 मात्रा — 2-4 ग्राम।

17.3.8 विशिष्ट योग—मांस्यादि क्वाथ, रक्षोघ्न घृत

17.4 eaMwdi.khZ&czkãh

17.4.1 नाम— लै०— सेंटेला एसियाटिका (*Centella asiatica*), सं०— मंडूकपर्णी, मांडूकी, ब्राह्मी, सरस्वती, हि०—बेंगसाग, मंडूकपर्णी, बं०—थुलकुडी, म०—करिवणा, गु०—खंडब्राह्मी, ता०—वाल्लरीकिरि, ते०—मंडूक ब्राह्मी ।

कुल— शतपुष्पा कुल अंबेलिफेरी (*Umbelliferae*).

17.4.2 स्वरूप एवं परिचय— यह वर्षायु क्षुप है। कांड जमीन पर फैलता है। कांड के प्रत्येक पर्व से मूल, पत्र, पुष्प और फूल निकलते हैं। पत्र वृक्काकृति जिनकी लंबाई 2.5 इंच और चौड़ाई 1.5 इंच के करीब रहती है। पुष्प छोटे, लाल रंग के होते हैं, जो बसंत ऋतु में खिलते हैं। फल छोटे लंबगोल होते हैं। बीज चपटे होते हैं। मूल बारीक सूत्र के समान रहते हैं।

जाति— (1) बंगीय ब्राह्मी, (2) शास्त्रीय ब्राह्मी

17.4.3 उत्पत्ति स्थान— भारतवर्ष में हिमालय की निचली घाटियों में, नदी, नालों एवं नहरों के किनारे, उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब आदि प्रदेशों में पाई जाती है।

17.4.4 गुण—कर्म— गुण—लघु रस—तिक्त, अनुरस—कषाय

विपाक—मधुर वीर्य—शीत, प्रभाव—मेध्य

कफ—पित्त शामक, मेध्य, स्मृतिवर्द्धक, मस्तिष्क दौर्बल्य शामक, दीपन, हृद्य, शोथहर, रक्तपित्त शामक, कफ निःसारक, प्रमेहघ्न, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, ज्वरहर, रसायन, बल्य।

17.4.5 प्रयोग— मेध्य और स्मृति शक्तिवर्द्धक होने के कारण इसका प्रयोग मस्तिष्क दौर्बल्य एवं तद्जनित उन्माद, अपस्मार आदि विकारों में करते हैं। हृदय की दुर्बलता तथा तज्जन्य शोथ में इसका प्रयोग करती हैं। इसके प्रयोग से स्वर साफ होता है। प्रसव के बाद स्तन्य की कमी एवं विकृति होने पर प्रयोग करते हैं। गंडमाला, श्लीपद आदि में उपयोगी है।

17.4.6 प्रयोज्य अंग— पंचांग।

17.4.7 मात्रा— स्वरस 10 से 20 मि०लि०, चूर्ण 3 से 6 ग्राम।

17.4.8 विशिष्ट योग— ब्राह्म रसायन, ब्राह्म घृत, ब्राह्मी तैल, सारस्वतारिष्ट, ब्राह्मी वटी।

17.5 वचा

17.5.1 नाम — लैटिन — एकोरस कैलेमस (Acorus calamus)

संस्कृत — वचा, उग्रगन्धा

अंग्रेजी — स्वीट फ्लैग (Sweet flag)

कुल — सर्ण कुल — (एरेसी — Araceae)।

17.5.2 स्वरूप — इसका सदाहरित क्षुप जलप्राय भूमि में 3-5 फीट ऊँचा होता है। इसका कंद भूमि में अदरख के समान फैलता है और मध्यमांगुली के समान स्थूल, 5-6 पर्ववाला, खुरदरा, झुर्रीदार, रोमश, बेलनाकार या कुछ दबा हुआ और सुगन्धि होता है। बाहर से यह हलका भूरा या बैंगनी-भूरा होता है तोड़ने पर भीतर सफेद और स्पंजमय निकलता है। पत्र— 3-6 इंच लंबे, चौड़े हरितवर्ण होते हैं, पत्तियों के किनारे लहरदार होते हैं पुष्पमंजरी— 2-4 इंच लंबी व्यासवाली किंचित वक्र और 6-30 इंच लंबे पत्रकोशों से आवृत रहती है।

जाति — भावप्रकाश ने वचा के प्रसंग में चार द्रव्यों का वर्णन किया है— (1) वचा (2) पारसीकवचा यह ईरान और कश्मीर में विशेषतः होता है। हिमालय प्रदेश में होने से हेमवती भी कहते हैं। यह बहुधा मुसलमानों की कब्र पर लगाई हुई मिलती है अतः इसे मजारपोश या मजारमुण्ड भी कहते हैं। पुष्पभेद से यह तीन प्रकार की होती है— श्वेत, रक्त और नील।

17.5.3 उत्पत्तिस्थान — यह जलासन्न भूमि में विशेषतः तालाबों और झरनों के किनारों होता है। समस्त भारत तथा श्रीलंका में 6000 हजार फीट की ऊँचाई तक वन्य रूप में या उपजाई हुई भूमि में मिलती है। कश्मीर, मणिपुर तथा नागालैंड में अधिक होती है। मैसूर के कोरतगीर तालुका में इसकी खेती प्रचूर मात्रा में की जाती है।

17.5.4 रासायनिक संघटन — इसकी मूलत्वचा में 1.5 से 3.5 प्रतिशत उड़नशील तेल होता है जिसमें प्रधानतः एसारिल ऐल्डीहाइड (Asaryl aldehyde) होता है। इसमें दो क्रियाशील तत्वों (A-Asarone and B-Asarone) का निरूपण किया गया है। इसके अतिरिक्त एकोरिन नामक एक तिक्त ग्लुकोसाइड, यूजेनाल, कैफीन, श्वेतसार तथा किंचित कषाय द्रव्य भी पाया जाता है।

17.5.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — इसका प्रयोग कफ—वातविकारों में किया जाता है।

सात्मीकरण — मेदोरोग में कर्शन के लिए इसका प्रयोग होता है। बुद्धिवर्धनार्थ कुमाररसायन में इसका प्रयोग किया जाता है। जो बच्चे जन्म के बाद जल्दी नहीं बोलते या हकलाते हैं उनमें वाक्शक्ति को बढ़ाने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

17.5.6 प्रयोज्य अंग — मूल एवं भौमिक काण्ड

17.5.7 मात्रा — 125-500 मि०ग्रा०, वमनार्थ 1-2 ग्राम।

17.5.8 विशिष्ट योग—सारस्वत चूष, मेघ रसायन।

17.6 'ka[kiq]"ih

17.6.1 नाम— लै०— कनवाल्वुलस प्लुरिकालिस (Convolvulus pluricaulis), सं०— शंखपुष्पी, क्षीरपुष्पी, मांगल्य कुसुमा, हि०— शंखाहुली, म०— सांखवेल, गु०— शंखवली।

कुल— त्रिवृत् कुल कनवाल्वुलेसी (Convolvulaceae).

17.6.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका बहुवर्षीय प्रसरी क्षुप होता है, जिसके काष्ठीय मूलस्तंभ से अनेक अवनत एवं रोमश 4 से 12 इंच लंबे कांड निकले होते हैं। पत्र 1.5 इंच लंबे होते हैं। पुष्प—शंख सदृश श्वेत वर्ण तथा हलके गुलाबी होते हैं। फल—अंडाकार 0.17 से 0.2 इंच लंबा होता है।

17.6.3 उत्पत्ति स्थान— यह समस्त भारत में विशेषतः पथरीले मैदानों में उत्पन्न होती है।

17.6.4 गुण—कर्म— रस—तिक्त गुण—स्निग्ध, पिच्छिल वीर्य—शीत विपाक—मधुर, प्रभाव—मेध्य

दोषकर्म— यह स्निग्ध, पिच्छिल एवं मधुर, विपाक होने के कारण वात तथा शीत वीर्य होने से पित्त शमन करती है। तिक्त रस के कारण कफ का भी शमन करती है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर विशेषतः वात—पित्त शामक है। कुष्ठघन, केशवर्धक, निद्राजनन, मस्तिष्क शामक, रक्तभार शामक, कफनिःसारक, मूत्रविरेचनीय, वृश्य, रसायन, बल्य है।

17.6.5 प्रयोग— केशवृद्धि के लिए इससे सिद्ध तैल का प्रयोग करते हैं। उन्माद, अपस्मार, अनिद्रा तथा भ्रम रोगों में प्रयुक्त। रक्तवमन (Haemetemesis) के लिए अद्वितीय औषध है। रक्तभाराधिक्य में भी उपयोगी है। गर्भाशय दौर्बल्य को दूर करती है। रक्त विकारों में लाभकारी है। बलवृद्धि के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

17.6.6 प्रयोज्य अंग— पंचांग।

17.6.7 मात्रा— कल्क 10 से 20 ग्राम, चूर्ण की मात्रा 2 से 3 ग्राम।

17.6.8 विशिष्ट योग— शंखपुष्पी पानक, मेध्य कषाय।

17.7 सर्पगन्धा

17.7.1 नाम — लैटिन — राबोफोल्फिया सर्पेण्टिना (Rauwolfia serpentine)

संस्कृत — सर्पगन्धा, धवलविटप चन्द्रमार हन्दी — धवलबरूआ

कुल — कुटज —कुल — (एपोसाइनेसी — Apocynaceae)

17.7.2 स्वरूप — इसका सरल सदाहरित क्षुप 1 से 3 फीट तक ऊँचा होता है। पत्र— 3-7 इंच लंबे दो से ढाई इंच चौड़े, अण्डाकार—भालाकार या अभिलट्टाकार, तीक्ष्णाग्र या लंबाग्र होते हैं। नीचे की ओर इनका रंग हलका हरा और ऊपर की ओर गहरा हरा होता है। पत्रसिरायें 8-10 तथा पत्रवृन्त -1/3इंच लंबा होता है। प्रत्येक काण्डपर्व से 3-4 पत्र निकलते हैं। पुष्प— श्वेत या गुलाबी, गुच्छों में होते हैं। फल— मटर के समान चिकने हरे और पकने पर काले होते हैं। ग्रीष्मकाल में पुष्प और

वर्षाकाल में फल निकलते हैं। मूल—दृढ़ 40से०मी० लंबे और 2 से०मी० व्यास के होते हैं। यह टेड़े मेड़े जगह जगह गांठदार, शाखायुक्त तथा अनियमित अनुलम्ब धारियों से युक्त होते हैं। तोड़ने पर इसके टुकड़े छोटे और अनियमित निकलते हैं। मूलत्वक् कपिश पीत से भूरे रंग की तथा काष्ठ पाण्डुर पीत वर्ण का होता है। मूल गंधहीन एवं अतिरिक्त होता है।

17.7.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत में सर्वत्र विकीर्ण रूप से होता है, कहीं भी एकत्र अधिक परिमाण में नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त वर्मा, लंका, जावा थाइलैंड आदि में भी मिलता है। यह समुद्रतल से 4000 फीट की ऊँचाई तक आर्द्र जंगलों में तथा छायादार स्थानों में होता है। इसके मूलों की आपूर्ति विशेषतः उत्तरप्रदेश, बिहार, उत्कल, पश्चिम बंगाल, आसाम, आंध्र, मद्रास आदि केन्द्रों में इसकी उपज की जाती है।

17.7.4 रासायनिक संघटन — उत्पत्तिस्थान के अनुसार इसमें 1.7 से 3 प्रतिशत तक क्षाराभ होते हैं। राबोफोलिया की विभिन्न जातियों में लगभग 80 क्षाराभ पाये गये हैं जिनमें रेसर्पिन प्रमुख है। इसके अतिरिक्त डेसर्पिडिन, रेसर्पिनिन, सर्पेण्टिन, सर्पाजिन, अजमलीन, आइसोअजमलीन आदि क्षाराभ पाये जाते हैं।

17.7.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण — सर्पविष में इसका प्रयोग किया जाता है। इसे पागलबूटी भी कहते हैं, मानसिक उन्माद में इसका प्रयोग किया जाता है।

17.7.6 प्रयोज्य अंग — मूल

17.7.7 मात्रा — रक्तभार कम करने के लिये 1-2 ग्राम।

17.7.8 विशिष्ट योग— सर्पगंधा चूर्ण, सर्पगंधाधनवटी।

17.8 ज्योतिष्मती

कुल — ज्योतिष्मती — कुल — (सिलैस्ट्रेसी— Celastraceae) ।

17.8.1 नाम — लैटिन — सिलैस्ट्रेस पैनिकुलेटस (Celastrus panniculatus),

संस्कृत — ज्योतिष्मती पारावतपदी हन्दी — माककांगनी अंग्रेजी — स्टाफ ट्री (Staff tree) ।

कुल — ज्योतिष्मती — कुल — (सिलैस्ट्रेसी— Celastraceae) ।

17.8.2 स्वरूप — इसकी आरोहिणी विस्तृत लता होती है। शाखायें झुकी हुई जिन पर श्वेत बिन्दु होते हैं। पत्र— अंडाकार या अभिलट्टाकार, नुकीले एवं दन्तुरधार 2.5 - 5 इंच लंबे तथा 1.25 - 2.50 इंच चौड़े होते हैं। पुष्प— पीताभ, हरित, सुगंधित गुच्छों में लगते हैं। पुष्पदंड 3-4 अंगुल लंबा होता है। फल— मटर के समान गोल, पीले विखण्ड होते हैं। प्रत्येक खण्ड में एक दो बीज केशरी रंग के आवरण से ढके होते हैं। पुष्प— नई पत्तियों के साथ अप्रैल—जून में निकलते हैं तथा फल अक्टूबर—जनवरी में पकते हैं।

17.8.3 उत्पत्तिस्थान — समस्त भारत, विशेषतः पंजाब, कश्मीर आदि पार्वत्य प्रदेशों में ३०००फीट की ऊँचाई तक होता है। श्रीलंका, मलयद्वीप तथा फिलिपाइन में भी पाया जाता है।

17.8.4 रासायनिक संघटन — बीजों में गाढ़ा, तिक्त एवं गंधयुक्त तेल, एक तिक्त रालयुक्त तत्त्व, कषायद्रव्य तथा क्षार होता है। बीजों से तेल दो प्रकार से निकालते हैं — (1) कोल्हू में दबाकर और (2) पातालयंत्र से। प्रथम विधि से प्राप्त तेल पीतवर्ण तथा द्वितीय विधि से प्राप्त तेल कृष्णवर्ण होता है इसके निर्माण में इन बीजों के साथ जायफल, जावित्री, लवंग और लोहावान भी मिला देते हैं। द्वितीय विधि से निष्काशित तेल में 'क्रिओजोट' नामक द्रव्य प्राप्त होता है। बीजों से जो क्षाराभ प्राप्त किये गये हैं उनमें एक सिलैस्ट्रिन और दूसरा पैनिकुलेटीन है।

17.8.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — कफवातशामक होने के कारण इसका प्रयोग कफवात—विकारों में होता है।

17.8.6 प्रयोज्य अंग — बीज और तेल

17.8.7 मात्रा — बीज 1-2 ग्राम

17.9 कुपीलू

17.9.1 नाम — लैटिन — स्ट्रिकनस नक्सवोमिका (Strychnos nuxvomica)

संस्कृत — कुपीलू हिन्दी — कुचला अंग्रेजी — नक्सवोमिका (Nuxvomica) ।

कुल — कारस्कर — कुल — (लोगेनिएसी — Loganiaceae)।

17.9.2 स्वरूप — इसका वृक्ष बड़ा लगभग 40-50 फीट ऊँचा होता है। शाखायें पतली और दृढ होती हैं। छाल—पतली, चिकनी और धूसरवर्ण होती है। काण्डसार काटने पर श्वेत किन्तु कुछ देर बाद पीताभ धूसर हो जाता है। पत्र चिकने, अभिमूख, किंचित दुर्गन्धि, लट्ठाकार या गोलाकार 2-4 इंच लंबे पत्रवृन्त होते हैं। पत्तियों पर तीन मजबूत तथा दो कमजोर सिरायें ऊपर से नीचे तक होती हैं। पुष्पदंड लंबा होता है जिस पर लगभग १/३इंच लंबे सफेद या हरिताभ श्वेत, नलिकाकार पुष्प अधिकांश छोटी प्रशाखाओं के अग्रभाग पर लगते हैं। पुंकेसर पांच और गर्भाशय दो भागों में विभक्त होता है। फल— गोलाकार, पकने पर चमकीले नारंगी रंग का हो जाता है। बीज— प्रत्येक फल में 2 से 5 तक, आधा इंच व्यास के बटन के समान गोल और कठिन, श्वेतधूसरवर्ण होते हैं। बसन्त ऋतु में फूल आते हैं और हेमन्त में फल पकते हैं।

17.9.3 उत्पत्तिस्थान — यह भारत के उष्णदेशीय जंगलों में विशेषतः मानभूम, मद्रास, ट्रावनकोर—कोचीन, कोंकण—मालावार और लंका में पाया जाता है।

17.9.4 रासायनिक संघटन — भारत में होने वाले कुपीलू में लगभग २.६ से ३प्रतिशत तक कुल क्षाराभ होते हैं जिनमें 1.25 से 1.5 प्रतिशत स्ट्रिकनीन होता है। इसके अतिरिक्त ब्रूसीन 1.7 प्रतिशत, वोमिसीन, स्ट्रिकनिक अम्ल से संयुक्त आइगास्थुरीन लोगानिन, प्रोटीड 11 प्रतिशत पीत रंजक पदार्थ, स्नेह, गोंद, श्वेतसार,

शर्करा होते हैं। स्ट्रिकनीन केवल बीज में तथा बुसीन ताजी छाल में सबसे अधिक और काष्ठ एवं पत्तियों में कुछ कम होता है।

17.9.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — कफवातजन्य विकारों में इसका प्रयोग होता है

सात्मीकरण — नाड़ियों में वात के कारण वेदना होने पर तथा सामान्य दौर्बल्य में इसका सेवन करते हैं। विशेषतः वृद्धावस्थाजन्य दौर्बल्य में यह अतिशय लाभकर होता है जब नाड़िया शिथिल हो जाती हैं, नींद कम आती है तथा भूख भी कम हो जाती है।

17.9.6 प्रयोज्य अंग — बीजमज्जा

17.9.7 मात्रा — 60 से 125 मि०ग्राम।

अभ्यास प्रश्न :- लघुउत्तरीय

प्रश्न १. जटामांसी एक बहुवर्षायु क्षुप है।

प्रश्न २. कुपीलु का लैटिन नाम लिखिए।

प्रश्न ३. सर्पगंधा का प्रयाज्यांग बताएँ।

17.9 सारांश

इस इकाई में आपने मेध्य वर्ग की महत्वपूर्ण औषधियों के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त की। ये औषधियाँ स्मृति शक्ति को बढ़ाती हैं तथा मस्तिष्क की क्रियाशीलता पर भी लाभकारी प्रभाव डालती हैं। अतः इनका विभिन्न मानसिक रोगों में निःसंकोच प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार ये संवेदी तंत्रिका तंत्र को स्वस्थ रखने में भी सहायता करती हैं। यदि कहा जाय कि ये औषधियाँ मस्तिष्क के लिए रसायन की तरह काम करती हैं तो गलत नहीं होगा इस प्रकार ये जरास्थापन यानि बुढ़ापे को दूर रखने का काम भी करती हैं। आशा है इन महत्वपूर्ण औषधियों का परिचय प्राप्त कर आप भी इनका लाभ उठाएँगे।

17.10 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अं०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, बं०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।

17.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. (क) सत्य, 2. *Strichnos nuxvomica*, 3. मूल

17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginous Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

17.13 निबन्धात्मक प्रश्न

- 1- शंखपुष्पी का विस्तृत विवरण दीजिए।
- 2- वचा का विस्तृत विवरण देते हुए उपयोग बताइये।

इकाई Z & 18 हृदय एवं उत्सर्जन तंत्र की व्याधियों में काम आने वाली औषधियां

18.1 प्रस्तावना

18.2 उद्देश्य

18.3 अर्जुन

- 18.3.1 नाम 18.3.2 उत्पत्ति स्थान 18.3.3 गुण—कर्म 18.3.4 प्रयोग 18.3.5 प्रयोज्य अंग 18.3.6 मात्रा
18.3.7 विशिष्ट योग

18.4 पुष्करमूल

- 18.4.1 नाम 18.4.2 स्वरूप 18.4.3 उत्पत्तिस्थान 18.4.4 रासायनिक संघटन 18.4.5 प्रयोग 18.4.6 प्रयोज्य अंग 18.4.7 मात्रा 18.4.8 विशिष्ट योग

18.5 वरूण

- 18.5.1 नाम 18.5.2 स्वरूप एवं परिचय 18.5.3 गुण—कर्म 18.5.4 प्रयोग 18.5.5 प्रयोज्य अंग 18.5.7 मात्रा

18.6 xks{kqj

- 18.6.1 नाम 18.6.2 उत्पत्ति स्थान 18.6.3 गुण—कर्म 18.6.4 प्रयोग 18.6.5 प्रयोज्य अंग 18.6.6 मात्रा 18.6.7 विशिष्ट योग

18.7 iquuZok

- 18.7.1 नाम 18.7.2 स्वरूप एवं परिचय 18.7.3 गुण—कर्म 18.7.4 प्रभाव व प्रयोग 18.7.5 प्रयोज्य अंग 18.7.6 मात्रा 18.7.7 विशिष्ट योग

18.8 पाषाणभेद

- 18.8.1 नाम 18.8.2 स्वरूप एवं परिचय 18.8.3 उत्पत्ति स्थान 18.8.4 गुण—कर्म

18.8.5 प्रयोग

- 18.8.6 प्रयोज्य अंग 18.8.7 मात्रा—

18.9 घृतकुमारी

- 18.9.1 नाम 18.9.2 स्वरूप एवं परिचय 18.9.3 उत्पत्ति स्थान 18.9.4 गुण—कर्म

18.9.5 प्रयोग

- 18.9.6 प्रयोज्य अंग 18.9.7 मात्रा 18.9.8 विशिष्ट योग

18.10 सारांश

18.11 शब्दावली

18.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

18.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

18.14 निबन्धात्मक प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

हृदय शरीर का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है, यह जीवन र्प्यत बिना रूके बिना थके कार्य करता रहता है। आप जानते ही हैं कि शरीर के लिए रक्त का कितना महत्व है। शरीर में रक्तसंचरण बिना स्वस्थ हृदय के संभव नहीं है। हृदय एक पम्प की तरह कार्य करता है और शरीर के हर हिस्से तक रक्त को पहुंचाता है। रक्त के माध्यम से ही शरीर के सभी अवयवों को ऑक्सीजन और पोषण मिल पाता है। शरीर से मलों का निकलना बहुत आवश्यक होता है। पुरीश, स्वेद व मूत्र आदि के रूप में शरीर से गंदगियां बाहर निकलती रहती हैं। शरीर से विजातीय तत्वों को बाहर निकालने में मूत्रवह संस्थान अथात् वृक्क, मूत्राशय, मूत्र नलिकाएँ इनका महत्वपूर्ण स्थान है। यदि ये सुचरू रूप से अपना कार्य न करें तो अनेक रोग संभावित हैं। इन रोगों को दूर करने के लिए ही वरूण, गोक्षरू, पाषाणभेद आदि औषधियों का वर्णन आयुर्वेद में किया गया है।

18.2 उद्देश्य

इस इकाई में हम वृक्क, मूत्राशय से संबंधित रोगों में प्रयुक्त औषधियों के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे। इन औषधियों का प्रयोग कहाँ और कब करना है, इसकी जानकारी प्राप्त करेंगे।

इन औषधियों का सामान्य रूप कैसा होता है, इसके किस भाग का प्रयोग करते हैं, इसकी जानकारी प्राप्त करेंगे। यह भी जानेंगे कि हृदय को स्वस्थ रखने के लिए कौन सी औषधियां लाभकर हैं।

18.3 अर्जुन

18.3.1 नाम— लै०— टर्मिनेलिया अर्जुन (Terminalia arjuna)] सं०— अर्जुन, धवल, ककुभ, इंद्रदु, नदीसर्ज, हि०— अर्जुन, काहू, कहुअ, म०— सादरू, गु०—सादडो, ता०— बेल्म, ते०— तैल्लमदि, क०— मदि, उ०— सहजो, अं०— अर्जुन (Arjuna) .

कुल— हरीतकी कुल कॉब्रेटेसी (Combretaceae) .

स्वरूप एवं परिचय— इसका वृक्ष 60 ls 80 फीट ऊँचा होता है। कांडत्वक् भीतर से रक्तवर्ण और बाहर से सफेद चिकनी होती है। पत्र 4 ls 6 इंच लंबे, आयताकार और 2 ls 3 इंच चौड़े होते हैं। पत्र के वृंत पर दो ग्रन्थियां होती हैं। पुष्प मंजरियों में लगे होते हैं। रंग में श्वेत या पीताभ होते हैं, फल 5 ls 7 पक्ष वाले होते हैं। कमरख में छोटे एक से डेढ़ इंच व्यास के होते हैं। गरमी के दिनों में पुष्प और सरदी के दिनों में फल आते हैं।

18.3.2 उत्पत्ति स्थान— हिमालय की तराई, पश्चिमी बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, पहाड़ी क्षेत्रों में नदी-नालों के किनारे।

18.3.3 गुण—कर्म— गुण—लघु, रूक्ष रस— कषाय

विपाक— कटु वीर्य— शीत

प्रभाव— हृद्य

कफ—पित्त शामक, रक्त स्तंभन, संधानीय, व्रण रोपण, हृद्य, शोथघ्न, कफघ्न, मूत्र संग्रहणीय, त्वच्य, ज्वरहर मेदोहर।

18.3.4 प्रयोग—क्षयज कास में वासा चूर्ण के साथ मिश्री, गो-घृत और मधु मिलाकर सेवन कराते हैं। अस्थिभग्न में छाल का लेप करते हैं और अर्जुन चूर्ण का सेवन दूध के साथ कराते हैं। रक्तस्राव रोकने के लिए तथा व्रणों में इसके स्वरस या चूर्ण का प्रयोग करते हैं।

अर्जुन छाल चूर्ण तीन ग्राम, जहरमोहरा पिष्टी 3 मासा, मिश्री 3 तोला मिलाकर एकत्र करके खरल कर रखें। मात्रा— 2 रत्ती से 8 रत्ती प्रातः—सायं गोदुग्ध से सेवन करने से हृदय रोग में आराम मिलता है।

18.3.5 प्रयोज्य अंग— त्वक्।

18.3.6 मात्रा— क्षीरपाक 5 ls 10 ग्राम, स्वरस& 10 ls 20 मि०ली०, क्वाथ& 50 ls 100 मि०ली०, चूर्ण 3 ls 6 ग्राम।

18.3.7 विशिष्ट योग— ककुभादि चूर्ण, अर्जुनारिष्ट, अर्जुन घृत।

18.4 पुष्करमूल

18.4.1 नाम — लैटिन — इन्जुला रेसिमोसा (Inula racemosa)

संस्कृत — पुष्करमूल,

हिन्दी — पोहकरमूल कुल — भृंगराज

कुल — (कम्पोजिटी — (Compositae)

18.4.2 स्वरूप — यह दृढ़ 1-5 फीट ऊँची औषधीय पौधा है। काण्ड परिखायुक्त होता है मूलीय पत्र 8-18 इंच लंबे, 5-8 इंच चौड़े, प्रायः उतने ही लंबे पत्रवृन्त से युक्त होते हैं। काण्डीय पत्र— आयताकार, अर्धकाण्डसंसक्त, प्रायः मूलभाग में गहरे खडित होते हैं। पुष्पमुण्डक— बडे, पीले डेढ़ से दो इंच व्यास के, गुच्छों में होते हैं। फल लंबे, चिकने तथा फलसंसक्त बहिर्दल लंबा और रक्ताभ होता है। पुष्करमूल की जड़ से कुष्ठ से मिलती—जुलती है अतः कश्मीर में इसकी मिलावट कूठ में करते हैं। इसकी ताजी जड़ में तीव्र कर्पूरवत् गंध होती है जो सूखने पर मंद पड़ जाती है।

18.4.3 उत्पत्तिस्थान — यह उत्तरपश्चिम हिमालय में 5-14 हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

18.4.4 रासायनिक संघटन — इसमें इम्युलिन (inulin) नामक पदार्थ (10 प्रतिशत) तथा एक सुगंधित तैल (1-3प्रतिशत) होता है। तैल का प्रमुख घटक एलेण्टोलैक्टोन (Alantolactone) है जो तीव्र कृमिघ्न है।

18.4.5 प्रयोग

दोषप्रयोग — यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण — सामान्य दौर्बल्य एवं पाण्डु में इसका सेवन कराते है। इससे पाचन ठीक होता है, मेदोधातु का आवरण हट कर हृदय एवं रक्तवह स्रोत्रों का कार्य ठीक होने लगता है। धात्वग्नियों के उत्तेजित होने से धातुपाक क्रिया ठीक होती है जिससे दौर्बल्य दूर होता है। आमवात में भी लाभकर है।

18.4.6 प्रयोज्य अंग — मूल

18.4.7 मात्रा — 1-3ग्राम।

18.4.8 विशिष्ट योग— पुष्करामूलादि चूर्ण, पुष्करादि क्वाथ।

18.5 वरूण

18.5.1 नाम— लै०— क्रेटिवा नुर्वला (Crataeva murvala)] सं०— वरूण, तिक्तशाक, हि०— बरूना, बं०—बरूण, म०—हाडवर्णा, गु०—वरणे, ता०—मारलिंगम, ते०—उरूमत्ति।

कुल— वरूण कुल कॅपेरीडेसी (Capparidaceae).

18.5.2 स्वरूप एवं परिचय— इसका वृक्ष 25-30 फुट लंबा होता है। छाल—धूरसर वर्ग और तिक्त होती हैं। टहनियों पर सफेद चिन्ह होते हैं। पत्र—लगभग 3 ls 5 इंच लंबे, बेल पत्र के सदृश त्रिपत्रक होते हैं। पुष्प 2-3 इंच व्यास के श्वेत या पीताभ, बैंगनी पुंकेशरयुक्त सुगंधित अंत्य मंजरियों में लगते हैं। फल—नींबू के सदृश 1 इंच व्यास के पकने पर लाल होते हैं। पुष्प बसंत में नवीन पल्लवों के साथ या कुछ पूर्व आते हैं। फल जून में लगते हैं। जनवरी से मात्र तक वृक्ष निष्पत्र रहता है।

18.5.3 गुण—कर्म— रस— तिक्त, कषाय गुण— लघु, रूक्ष

वीर्य— उष्ण, विपाक— कटु प्रभाव— अश्मरी भेदन

दोषकर्म— यह कफ—वात शामक तथा पित्तवर्द्धक है। दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक, भेदन, कृमिघ्न, रक्तशोधक, ज्वरघ्न, अश्मरीभेदन, मूत्रल, संक्रमण प्रतिरोधी है।

18.5.4 प्रयोग— व्रणशोथ, विद्रधि, गंडमाला में इसकी छाल या पत्र का लेप करते हैं। वातरक्त, अंतर्विद्रधि, गंडमाला आदि में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं, दौर्बल्य में देते हैं।

विशेष— इसका सबसे अधिक प्रभाव मूत्र संस्थान पर पड़ता है। विशेषतः अश्मरी भेदन तथा मूत्रल गुण के कारण वरूण आयुर्वेद जगत में विख्यात है, परंतु इसके अतिरिक्त विशिष्ट भिन्न व्याधियों में भी इसकी चिकित्सा लाभकर है। गंडमाला में इसकी छाल का लेपन बहुत जल्दी लाभ करता है। इसका क्वाथ भी मधु डालकर पीना बड़ा लाभदायक सिद्ध होता है। अपक्व विद्रधि में भी इसका क्वाथ पीना बड़ा हितकर कहा गया है। इसके अतिरिक्त आमवात, व्रणशोथ, पादतलशोथ, जलन और वातरक्त में भी वरूण लाभदायक सिद्ध हुआ है।

18.5.5 प्रयोज्य अंग— त्वक्।

18.5.6 मात्रा— क्वाथ 50 ls 100 मि०लि०, चूर्ण 2 ls 4 ग्राम।

18.6 xks{kqj

18.6.1 नाम— लै०— ट्रिबुलस टेरेस्ट्रिस (Tribulus terrestris)] सं०— गोक्षुर, श्वदंष्ट्रा, स्वादुकंटक, त्रिकंटक, वनशृंगाट, चणद्रुम, इक्षुगंधिका, हि०—गोखरू, हथकिचार, बं०— गोखरी, गोक्षुर, म०— सराटे, कांटेगोखरू, गु०— न्हाना गोखरू, बेठा गोखरू, पं०—भखड़ा, ते०— पान्नेमुल्लु, क०— नेगुलु, फा०— खोरखसक, अ०—हसक, अं०— लैण्ड कॅल्ट्रोप्स।

कुल— गोक्षुर कुल जाइगोफिलेसी (Zygophyllaceae).

स्वरूप एवं परिचय— यह जमीन पर फैलने वाला क्षुप है। इसकी शाखाएँ बैंगनी हरे रंग की 2-3 फीट लंबी चारों ओर फैली रहती हैं। ये श्वेत रोम एवं अनेक ग्रंथियुक्त होती है। पत्र चने के पत्र से कुछ बड़े, विपरीत एवं 2-3 इंच लंबे होते हैं। पुष्प पीतवर्ण के, पाँच पंखुड़ी वाले कंटक युक्त होते हैं। शरद ऋतु में आते हैं। फल छोट-छोटे गोल, चपटे, पंचकोणीय तीक्ष्ण कांटों से युक्त होते हैं। इनमें अनेक बीज रहते हैं। मूल 4-5 इंच लंबा धूसर वर्ण, सूत्रमय तथा कुछ सुगंधयुक्त होता है।

जाति— (1) छोटा गोखरू, (2) वृहत् गोक्षुर (बड़ा गोखरू)।

18.6.2 उत्पत्ति स्थान— समस्त भारत में होता है। विशेषतः पश्चिम भारत के पंजाब, सिंध एवं बलूचिस्तान, फारस, अरब, सीरिया, मिस्र में होता है।

18.6.3 गुण—कर्म— गुण— गुरू, स्निग्ध रस— मधुर
विपाक— मधुर वीर्य— शीत

वात—पित्त शामक, वेदना स्थापन, बल्य, अनुलोमन, सारक, हृद्य, रक्तपित्त शामक, शोथहर, कफ निःसारक गर्भस्थापन, वृष्य, मूत्रल, अश्मरी नाशन।

18.6.4 प्रयोग— नाड़ीदौर्बल्य, वेदनायुक्त विकार, वातव्याधि में प्रयुक्त होता है। योनिव्यापत्, गर्भपात तथा क्लैव्य में भी इसे देते हैं। अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, बस्तिशोथ में इसका प्रयोग अतीव लाभकारी है।

कष्टप्रद वेदना में इसे अफीम या खुरासानी अजवायन के साथ देते हैं। मूत्र के साथ रक्तस्राव हो तो इसके चूर्ण को दूध में उबालकर मिश्री मिलाकर पिलाएँ।

अश्मरी पर इसके चूर्ण को ३ माशा की मात्रा में मधु के साथ चाटकर ऊपर से बकरी या भेड़ का दूध पीने से लाभ होता है।

गोखरू और शतावरी को दूध में मिलाकर उबालकर पीते रहने से वृद्धावस्था में शरीर सुदृढ़ होता है एवं नपुंसकता भी दूर होती है।

18.6.5 प्रयोज्य अंग— फल, मूल।

18.6.6 मात्रा— फलचूर्ण 3 ls 6 ग्रा०, क्वाथ 50 ls 100 मि०लि०।

18.6.7 विशिष्ट योग— गोक्षुरादि चूर्ण, गोक्षुराद्यवलेह, गोक्षुरादि गुग्गुलु, गोक्षुरादि क्वाथ, दशमूलारिष्ट।

18.7 iquuzok

18.7.1 नाम— लै०— बोर्हेविया डिफ्यूजा (Boerhavia diffusa)] सं०— पुनर्नवा, शोथघ्नी, हि०— गदहपुरना, बं०— पुनर्नवा, पं०—इटसिट, म०—घेंटुली, गु०—साटोडी वसडो, ता०—सुकुएट्टि, ते०— अटात सामिडि, अ०— हंदकूकी, अं०—स्प्रेडिंग हॉगवीड।

कुल— पुनर्नवा कुल निक्टेजिनेसी (Nyctaginaceae.)

18.7.2 स्वरूप एवं परिचय— यह बहुवर्षायु प्रसरणशील क्षुप है। लंबाई 2 ls 3 फुट तक रहती है। वर्षा में यह उगती है और यह मृदुरोमश या चिकने कांड वाली होती है। ये रंग में लाली लिए होती है। पत्र 1 ls 1.5 इंच लंबे, गोल या अंडाकार होते हैं। मृदु रोम युक्त, मांसल, क्रम में अभिमुख होते हैं। मूल पतले, दृढ़ और हल्के श्वेत होते हैं। श्वेत पुनर्नवा और रक्त पुनर्नवा में निम्न प्रकार से सामान्यतः विभेद किया जाता है।

- (1) रक्त पुनर्नवा— लैटिन नाम— बोरहैविया डिफ्यूजा (Boerhavia Diffusa) है।
- इसके पत्र अपेक्षाकृत छोटे और पतले होते हैं।
 - शाखाएँ कुछ मजबूत होती है।
 - मूल लंबा और दुग्ध जैसे गाढ़े रस से युक्त गाजर या मूल जैसा कंदाकार, मांसल, अनेक उपमूल युक्त, स्वाद में प्रथम मधुर सा फिर चुनचुनाहट पैदा करने वाला होता है।
 - पुष्प पत्रकोण से निकले हुए पुष्पदंड पर गेंद या छत्री के आकार के छोटे-छोटे गुलाबी या लाल रंग के वृंदरहित होते हैं।
 - बहुवर्षायु होते हैं।
 - पुष्प पर वाह्य और आभ्यंतर ऐसे दो आच्छादन समान आकार के तथा एकसमान मुलायम होते हैं।
 - शोथहर, उदर रोगहर, विशेष मूत्रल।

गुण—कर्म— गुण— लघु, रूक्ष रस— मधुर, तिक्त
विपाक— कटु, प्रभाव—शोथघ्न मृदु विरेचन वीर्य— उष्ण

(2) श्वेत पुनर्नवा—

- इसके पत्र बड़े तथा चिकने, लसदार एवं रसभरे होते हैं।
- शाखाएँ रसदार व भंगुर होती हैं।
- मूल दृढ़, श्वेत, ऊपर पतला, बीच में मोटा तथा नीचे पुनः पतला अर्थात् बेलनाकार होता है। स्वाद में चिपचिपा, फीका, लालास्राववर्धक होता है। मुख से निकाल देने पर 5 से 10 मिनट में तीखी, कड़ी व रूखी हो जाती है। ताजे में उग्रगंध होती है।
- सूक्ष्म, श्वेत, या गुलाबी रंग के वृंत रहित होते हैं।
- केवल वर्षाकाल में हरी प्राप्त होती है।
- पुष्प पर वाह्य आच्छादन कटोरी के आकार का होता है। भीतर का आच्छादन नहीं होता।
- नेत्ररोग, रसायन, गर्भस्रावक।

18.7.3 गुण—कर्म— गुण— लघु, रूक्ष रस— कटु, कषाय
विपाक— कटु वीर्य— उष्ण

18.7.4 प्रभाव व प्रयोग— शोथघ्न, तीव्र विरेचक

त्रिदोषहर, लेखन, शोथहर, दीपन, अनुलोमन, रेचन, हृद्य, रक्तवर्धक, कासहर, वृष्य, मूत्र जनन, स्वेद जनन, कुष्ठघ्न, रसायन, विषघ्न।

रक्त पुनर्नवा के प्रयोग— वातज कास, शोथ, व्रण, जलोदर, विद्रधि, यकृतवृद्धि, कुष्ठ, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी, उपदंश, पूयमेह आदि रोगों में प्रयोग किया जाता है।

श्वेत पुनर्नवा के प्रयोग— काच या मोतियाबंद, नेत्रकंडू, तिमिर आदि नेत्ररोग फुफ्फुसावरण, शोथ, गुल्म, वातज शूल, प्लीहावृद्धि, अम्लपित्त, आमवात, कामला, प्रतिश्याय, कास, श्वास, हृद्दरोग, भगंदर, श्लीपद, गंडमाला, कटिशूल, अनार्तव, मूढगर्भ, स्तनपाक आदि रोगों में प्रयुक्त होता है।

पुनर्नवा मूल चूर्ण, वरूण छाल चूर्ण दोनों का क्वाथ 4 तो० तक सेवन करने से अंतर्विद्रधि नष्ट होती है। नारू पर पुनर्नवा मूल चूर्ण, सोंठ चूर्ण, पुनर्नवा स्वरस में घोटकर बॉधते हैं। श्वास, यकृत शोथ, मासिक धर्म की रूकावट में जड़ का क्वाथ दिया जाता है। अंडकोश की शोथयुक्त प्रदाह, स्तनपाक पर जड़ को दूध में पीसकर पिलाते हैं और स्थानिक प्रयोग करते हैं।

श्वेत पुनर्नवा की जड़ को गुलाब जल/शुद्ध जल /मधु के साथ घिसकर रात्रि को सोते समय नेत्रों में आंजने से अनेक नेत्र विकार दूर होते हैं।

18.7.5 प्रयोज्य अंग— मूल, बीज, पंचांग।

18.7.6 मात्रा— स्वरस 5 ls 10 मि०लि०, बीज चूर्ण 1 से 3 ग्राम

18.7.7 विशिष्ट योग— पुनर्नवा मूल चूर्ण, पुनर्नवादि लेह, पुनर्नवादि क्वाथ, पुनर्नवादि चूर्ण, पुनर्नवादि अर्क, पुनर्नवासव, पुनर्नवा घृत, पुनर्नवादि तैल, पुनर्नवा गुग्गुलु, पुनर्नवादि मंडूर, लौहभस्म सिंदूरी, पुनर्नवाष्टक क्वाथ।

18.8 पाषाणभेद

18.8.1 नाम— लै०— बर्जिनिया लिग्युलेटा (*Bergenia ligulata*) सं०— पाषाणभेद, अश्मघ्न, हि०— पखान भेद, सिलफड़ा, पथरचूर, म०—पखानभेद, गु०—पखानभेद, क०—पहांड।

कुल— पाषाणभेद कुल सैक्सिफ्रॅगासी (*Sexifragaceae*)

18.8.2 स्वरूप एवं परिचय— पहाड़ों की चट्टानों पर यह क्षुप फैलता है। दरारों में इसका कांड बाहर निकलता है। मूल 1-2 इंच लंबा, मोटा और लाल रंग का होता है। पत्र गोलाकार होते हैं। ऊपरी पृष्ठ हरा और नीचे का रक्ताभ होता है। ये मांसल और दंतूर होते हैं। पत्तों का व्यास 5 ls 10 इंच तक रहता है। 3-4 पत्तियां एक साथ उगती हैं। पुष्प सफेद, गुलाबी रंग के होते हैं। अप्रैल—मई में पुष्प खिलते हैं।

जाति— बी स्ट्रायेची (*B. Stracheyi*)

18.8.3 उत्पत्ति स्थान— हिमालय के समशीतोष्ण प्रदेशों में 7 ls 10 हजार फीट की ऊंचाई पर प्राप्त होते हैं। उत्तराखण्ड, कश्मीर, भूटान, सिक्किम आदि के पर्वतीय पथरीली जमीन पर सर्वत्र पाया जाता है।

18.8.4 गुण—कर्म— गुण— लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण रस— कषाय, तिक्त विपाक— कटु वीर्य— शीत

त्रिदोष शामक, शोथहर, व्रणरोपण, स्तंभन, हृद्य, कफ निःसारक, अश्मरीभेदन, मूत्रल, ज्वरघ्न, विषघ्न।

18.8.5 प्रयोग— व्रणशोथ तथा नेत्राभिष्यंद में स्थानिक लेप के रूप में लगाते हैं। मधु के साथ मिलाकर बच्चों के दाँत निकलने के समय इसे लगाते हैं। अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र में यह अतीव उपयोगी है। योनिव्यापद् (श्वेत एवं रक्तप्रदर तथा कष्टार्तव) में देते हैं। अतिसार, प्रवाहिका, अर्श में प्रयुक्त होता है।

18.8.6 प्रयोज्य अंग— मूल।

18.8.7 मात्रा— चूर्ण 3 सs 6 ग्राम, क्वाथ 50 सs 100 मि०लि०।

18.8.8 विशिष्ट योग— पाषाणभेदादि चूर्ण, पाषाणभेदादि क्वाथ, पाषाणभेदादि घृत।

18.9 घृतकुमारी

18.9.1 नाम— लै०— एलो वेरा (Aloe vera)] सं०— कुमारी, गृहकन्या, घृतकुमारिका, हि०— घीकुआँर, ग्वारपाठा, बं०—घृतकुमारी, म०—कोरफड, गु०—कुँवारपाठ, त०—चिरूली, ते०—चिन्नकट बाँदा, क०— लोलिसार, मल०—कुमारी, अ०—सब्बारत, अं०— इंडियन एलो (Indian Aloe).

कुल— रसोनकुल लिलिएसी (Lilliaceae).

18.9.2 स्वरूप एवं परिचय— यह क्षुप जाति की वनस्पति है। इसकी ऊँचाई 1 से 2 फुट रहती है। पत्तियाँ 15 इंच तक लंबी, 4 इंच तक चौड़ी, पौन इंच के करी मोटी, मांसल, कंटंकित दंतूर होती हैं। ये दो की पंक्तियों में व्यवस्थित या चक्राकार होती हैं। पत्तियों के अंदर पिच्छिल मज्जा होती है। क्षुप के मध्यभाग से पुष्प ध्वज निकलता है, जिसमें लाल आभा लिए पुष्प खिलते हैं। शीतकाल के अंत में पुष्प और फल लगते हैं। पत्र को काटने पर उससे एक पीले रंग का रस निकलता है। ठंडा होने पर यह जम जाता है, इसे ही कुमारी सार, मुसब्बर, एलुआ या काला बोल कहते हैं। निर्माण प्रक्रिया के अनुसार इसमें दो से प्रकार के सत्व प्राप्त किए जाते हैं—

(1) यकृतवतकुमारी सार।

(2) काचवतकुमारी सार।

जाति— (1) क्युराकाओ — भूरे काले रंग का।

(2) सोकोटाइन— रक्ताभ काले रंग का।

(3) अंतर्द्वीपीय — हरिताभ भूरे रंग का होता है।

भारतीय प्रजाति में भी तीन प्रकार के पाए जाते हैं— (1) Var Chainensis (2) Var Littoralis (3) Variegata Linn.

18.9.3 उत्पत्ति स्थान— उत्तरी अफ्रीका, कनारी द्वीप समूह, स्पेन, पश्चिमी द्वीप समूह, चीन, जर्मनी, भारत में सर्वत्र पाया जाता है।

18.9.4 गुण—कर्म— गुण— गुरू, स्निग्ध, पिच्छिल रस— कटुविपाक— तिक्त वीर्य— शीत

एलुआ लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण होता है। कफ-पित्तहर, शोथहर, वेदना स्थापन, व्रणरोपण, दीपन, पाचन, भेदन, यकृतदुत्तेजक, विरेचन, कृमिघ्न, रक्तशोधक, मूत्रल, वृष्य, आर्तवजनन, गर्भस्रावकर, त्वग्दोषहर, ज्वरघ्न।

18.9.5 प्रयोग— अग्निमांद्य, उदर रोग, गुल्म, प्लीहावृद्धि, यकृतवृद्धि, उदरशूल, विबन्ध, तंतुकृमि, रक्तविकार, मूत्रकृच्छ्र, रजोरोध, चर्मरोग, जीर्णज्वर।

शोथवेदनायुक्त विकारों में मुसब्बर का लेप करते हैं। जीर्ण व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं। प्लीहावृद्धि में कुमारी की मज्जा पर हल्दी छिड़ककर, गरमकर प्लीहा के स्थान पर बाँधते हैं। इसका स्वरस नेत्राभिष्यंद में डालते हैं। शिरोरोग ओर नेत्ररोगों में दाहपीड़ा अधिक हो तो पत्र मज्जा को बाँधते हैं। अग्निमांद्य, उदररोग, गुल्म, प्लीहा-यकृत वृद्धि, उदरशूल, विबन्ध तथा कृमिरोग में स्वरस प्रयोग करते हैं। रजोरोध में एलुआ की बस्ति भी योनि में रखते हैं।

18.9.6 प्रयोज्य अंग— पत्र।

18.9.7 मात्रा— पत्र स्वरस 10 से 20 मि०लि०, एलुआ चूर्ण 0.1 से 0.3 ग्राम।

18.9.8 विशिष्ट योग— कुमार्यासव, कुमारिका वटी, रजःप्रवर्तनी वटी, कुमारी पाक। विशेष— आर्तवजनन के लिए रजःकाल से एक सप्ताह पूर्व से इसका सेवन करना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न :- लघुउत्तरीय

iz'u 1- vtqZu eq[;lk ls gSA

mRrj ¼d½ g`|- ¼[k½ iqjh"ktuu ¼x½ ew+=fojatuh;

iz'u 2- ew=k'ejh jksx esa dke vkus djus okyh ,d vkS"kf/k dk uke fyf[k,A

iz'u 3- fdUgha nks ew=y vkS"kf/k;ksa dk uke crk,WaA

18.10 सारांश

bl bdkbZ esa vkus ew=og laLFkku ls lacaf/kr jksxksa ds mipkj esa iz;qDr gksus okyh dqN egRow.kZ oukS"kf/k;kWa tSlS o:.k] xks{kqj] iquuZok] ik"kk.kHksn ds laca/k esa foLr`r tkudkj izklr dhA lkFk gh g`n; ds fy, mi;ksxh vkS"kf/k vtqZu ds ckjs esa tkukA bu vkS"kf/k;ksa ds Lo:i] fof/k iz;ksx] miyC/krk] iz;ksT;kax] iz;ksx gsrq mi;qDr ek=k] fof'k"V ;ksx vkfn dh tkudkj nh xbZ gSA

18.11 शब्दावली

हि०— हिन्दी, अ०—अंग्रेजी, अ०—अरबी, आ०—आसामी, उ०—उड़िया, क०—कश्मीरी, फा०—फारसी, सं०—संस्कृत, गु०—गुजराती, ब०—बांग्ला, म०—मराठी, मल०—मलयाली, ता०—तामिल, ते०—तेलुगु, क०—कन्नड़, पं०—पंजाबी, भू०—भूटानी, ने०—नेपाली, लै०—लैटिन, ग्रा०—ग्राम, मि०ग्रा०—मिलिग्राम, मा०ग्रा०—माइक्रोग्राम, मि०लि०/मिलि०—मिलिलिटर, लि०—लिटर, तो०—तोला, मा०—माशा, र०—रत्ती।

18.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1 – हृद्य, 2— पाषाणभेद, 3— पुनर्नवा, गोखरू

18.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, हारीतसंहिता, रसरत्नसमुच्चय, राजवल्लभनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला, भावप्रकाश, अष्टासंग्रह, Hooker's Flora of British India, Volume 1-3, Dehradun, 1973, Chopra's Indiginus Drugs of India, Calcuta, 1958, Medicinal Plants of India, I.C.M.R., New Delhi, 1976, Wealth of India (Raw Materials), C.S.I.R., New Delhi, 1948-1976, Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C.S.I.R., New Delhi, 1956.

18.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पाषाणभेद का विस्तृत विवरण दीजिए।
2. गोक्षुर के गुण व उपयोग बताइये।